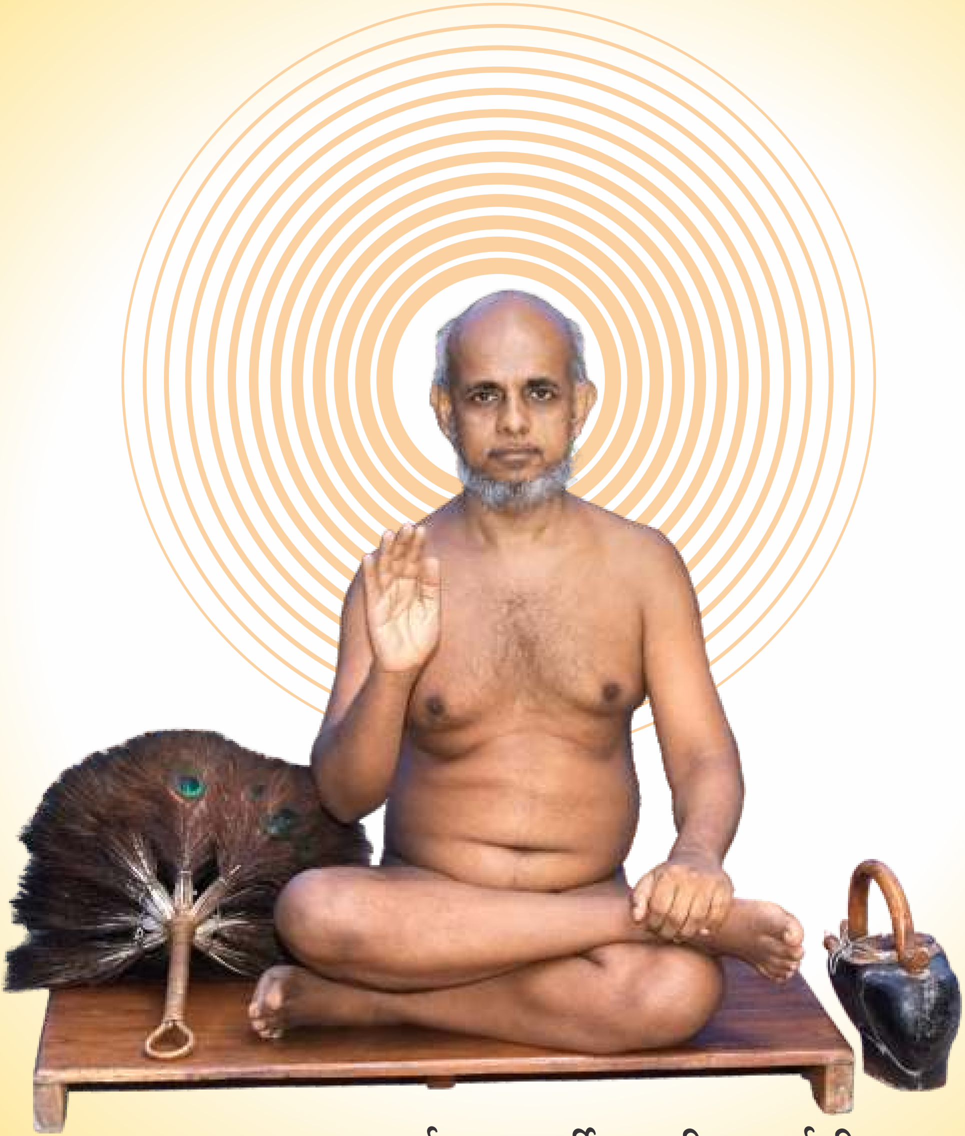

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

अनित्यपंचाशत्

ग्रन्थकर्त्ता
परम पूज्य आचार्यश्री पद्मनन्दी जी महाराज

अनुवादक
जुगलकिशोर मुख्तार

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, सरसावा (उत्तरप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

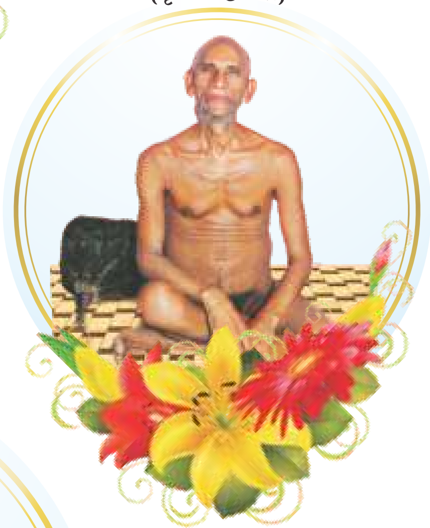

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

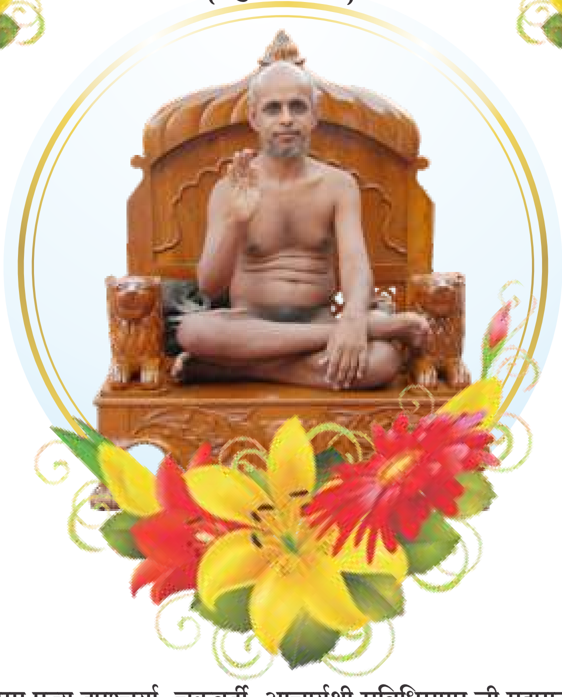

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

Printed by G N Kulkarni at the Karnatak
Press, No 7, Girgaon Back Road,
Bombay,
and
Published by Shri Nathuram Premi, Proprieto
Shri Jain Granth Ratnakar Karyalaya,
Hirabag C P Tank, Bombay

समर्पण ।

विद्याके प्रेमी, सत्पथानुगामी, गुणग्राही, शान्त-
स्वभावी, परोपकारी, ब्रह्मचारी, अष्टम प्रति-
माके अभ्यासी, जैनधर्मके प्रचारमें सविशेष-
रूपसे उद्यमी, मान्यवर श्रीमान् त्यागी
बाबा भगीरथजी वर्णीके करकमलोंमें—
अनेक सद्गुणोंमें अनुरक्त अनुवादक
के द्वारा—श्रीपद्मनन्द्याचार्यकी
'अनित्यपचाशत्' नामक
पुस्तकका यह हिन्दी
पद्यानुवाद सादर
समर्पित हुआ ।

प्रस्तावना।

श्रीपद्मनन्दि आचार्यने 'अनित्यपचाशत्' को रचकर ससारी जनोंका बड़ा उपकार किया है। इष्टवियोगादिके कारण कैसा ही शोकसतप्त हृदय क्यों न इसको एकवार पढ लेनेसे परमशान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठसे उदा नता और खेद दूर होकर चित्तमें प्रसन्नता और सरसता आ जाती है। ससारके भोगोंका यथार्थ स्वरूप मालूम करके हृदयमें विवेकबुद्धि जागृत हो उठती है ससारी जनोंको उनकी भूल मालूम पड जाती है और उनमें धैर्य और साहस मात्रा वढ जाती है। जो लोग शोक सतापमें आत्मसमर्पणकर अपने धर्मार्थादि पुरुषार्थोंको खो वैठते है–अकर्मण्य वन जाते है–महीनों वर्षोंतक रोते पीटते और इसप्रकार अपने शारीरिक और मानसिक वलको क्षति (हानि) पहुँचाकर पना जीवन, एक प्रकारसे, दु खमय वना लेते हैं, उनके लिये ऐसे ग्रथोंका मन वडा ही उपयोगी है–उनकी आत्माओंको उन्नत करने और उनका दुख दूर क नेमें वडा ही सहायक है। ऐसे ग्रन्थरत्नोंका सर्वसाधारणमें प्रचार होनेकी व वडी आवश्यकता है। यह ग्रन्थ जैन अजैन सवके लिये समानरूपसे हितकारी

इस ग्रन्थकी भाषा सस्कृत होनेके कारण हमारा हिन्दी समाज अभीतक इस लाभोंसे प्राय वचित हो रहा है। यह देख, मेरे अन्त करणमें इस परमोपका ग्रथका हिन्दी पद्यानुवाद करनेका विचार उत्पन्न हुआ। उसीके फलस्वरूप पद्यानुवाद पाठकोंके सन्मुख उपस्थित है। इस अनुवादमें मैंने, इस वातका ध्य रखते हुए कि मूलकी कोई वात छूट न जावे, उस भावको लानेकी यथाशक्ति चेष्टा है जो आचार्य महोदयने मूलमें रक्खा है और साथ ही यह भी खयाल रक्खा कि अनुवादकी भाषा कठिन न होने पावे। मुझे, इसमें, कहाँतक सफलता प्र हुई है, इसका विचार मैं अपने विचारशील पाठकोंपर ही छोडता हूँ। आ है कि हिन्दीभाषाभाषी दूसरा श्रेष्ठ अनुवाद न होनेतक इसअनुवादको आदर दृष्टिसे देखेंगे और इससे कुछ लाभ अवश्य उठावेंगे।

अन्तमें मैं श्रीमान् सेठ हीराचदजी नेमिचन्दजी आनरेरी मजिष्ट्रेट सोला का हृदयसे आभार मानता हूँ जिनकी कि प्रथम प्रकाशित की हुई इस 'अनि पचाशत्' और उसकी सस्कृत टीकाको देखकर मुझे इस अनुवादके करने प्रेरणा हुई।

देववन्द
जि० सहारणपुर।

जुगलकिशोर मुख़्तार।

ॐ

श्रीवीतरागाय नमः

अनित्यभावना।

अर्थात्

श्रीपद्मनन्द्याचार्यकृत

अनित्यपंचाशत्

हिन्दी पद्यानुवादसहित।

दोहा।

गहि धनु धीरज हस्त निज, ले वैराग सुतीर।
खैंच मोहरिपु जिन हतो, जयो योगिवर वीर॥ १॥

आर्या[1] छंद।

जनके वचन करुण[2] भी, शरगण हों मोह शत्रु नाशनको।
र्य धनुपधर योगी,-सुभटनप्रति, जयहु सुजिनदेव॥ १॥

अनित्यपंचाशत्।

जयति जिनोधृतिधनुपामिषुमाला भवति योगियोधाना। यद्वाक्करु-
ामय्यपि मोहरिपुप्रहतये तीक्ष्णा॥ १॥ यद्येकत्र दिने न भुक्तिरथवा

१ इस छदके चारों चरणोंमें क्रमश १२, १८, १२, १५ मात्रा होती है।
२ दयामय।

नरेन्द्रछंद (जोगीरासा)।[1]

मिलै न एक दिवस भोजन या, नींद न निशको आवै।
अग्निसमीपी अम्बुजदलसम[2], यह शरीर मुरझावै॥
शस्त्र व्याधि जल आदिकसे भी, क्षणभरमें क्षय हो है।
चेतन! क्या थिरबुद्धि देहमें? विनशत अचरज को है?॥२॥

चर्म मँढ़ी दुर्गंध अशुचिमय,-धातुन भीत घिरी है।
क्षुधा आदि दुख मूसन छिद्रित, मलमूत्रादि भरी है॥
जरत स्वयं ही जरा वह्निसौं, काय कुटी सब जानैं।
मूढ मनुष है इतनेपर भी, जो थिर शुचितर मानैं॥ ३

जलबुद्बुद[3] सम है तनु, लक्ष्मी, इन्द्रजालवत मानो।
तीव्र पवनहत मेघ पटल जिम, धन कान्ता सुत जानो

निद्रा न रात्रौ भवेत्, विद्रात्यम्बुजपत्रवद्दहनतोम्याशस्थितायद्ध्रुवम् अस्त्रव्याधिजलादितोऽपिसहसा यच्च क्षय गच्छति, भ्रातःकात्र शरीरके स्थितिमतिर्नाशेऽस्य को विस्मयः॥ २॥ दुर्गंधाशुचिधातुभित्तिकलित सच्छादित चर्मणा, विण्मूत्रादिभृत क्षुधादिविलसद्दुःखाखुभिश्छिद्रित। क्लिष्ट कायकुटीरक स्वयमपि प्राप्त जरावह्निना, चेदेतत्तदपि स्थिर शुचितर मूढो जनो मन्यते॥ ३॥ अम्भोबुद्बुदसन्निभा तनुरिय श्री-

---

१ नरेन्द्र छद मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकारका होता है। मात्रिकमें २८ (१६+१२) मात्रा होती हैं और अन्तमें दो गुरु वा किसी किसीके मतसे एक वा तीन गुरु होते हैं। और वर्णिक रूप इस छदका २१ अक्षर-का होता है। परन्तु मात्रा उसमें भी २८ ही होती हैं और गण उसमें भगण, रगण, नगण, नगण, जगण, जगण और यगण-इस क्रमसे होते हैं। इस पुस्त-कमें इस छन्दका सर्वत्र मात्रिकरूप दिया गया है। २ कमलपत्र। ३ पानीका बलबला।

मत्त त्रियाके ज्यौं कटाक्ष त्यौं, चपल विषयसुख सारे ।
तातैं इनकी प्राप्ति नास्तिमें, हर्ष शोक क्या प्यारे ॥४॥
देह जननि है दुःख मरणकी, भयो योग यदि यासे ।
तो फिर शोक न वुधजन कीजे, मरते वा दुख आते ॥
आत्मस्वरूप विचारो तातैं, नित तज आकुलताई ।
संभव होय न कवहुँ जासतैं, देहजन्म दुखदाई ॥५॥
दुर्निवार निजकर्महेतुवश, इष्ट–स्वजन मर जावै ।
जो तिसपर वहु शोक करे नर, सो उन्मत्त कहावै ॥
जातैं शोक किये क्या सिद्धी, पर इतना फल हो है ।
नाश होहिं तिस मूढ मनुजके, धर्मार्थादिक जो है ॥६॥
सूर्यविम्ब ज्यौं उदय होय फिर, काल पाय छिप जावै ।
सर्व देहधारिनको तनु त्यौं, उपजै अरु नश जावै ॥

रिन्द्रजालोपमा, दुर्वाताहतवारिवाहसदृशा: कान्तार्थपुत्रादयः । सौख्यं वैषयिकं सदैव तरलं मत्ताङ्गनापाङ्गवत्, तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविषये शोकेन किं किं मुदा ॥ ४ ॥ दुःखे वा समुपस्थितेऽथ मरणे शोको न कार्यो वुधै:, सम्बन्धो यदि विग्रहेण यदयं सभूतिदात्री तयो: । तस्मात्तत्परिचिन्तनीयमनिशं संसारदु:खप्रदो, येनाऽस्य प्रभवः पुनः पुनरपि प्रायो न संभाव्यते ॥ ५ ॥ दुर्वारार्जितकर्मकारणवशादिष्टे प्रनष्टे नरे, यच्छोकं कुरुते तदत्र नितरामुन्मत्तलीलायितम् । यस्मात्तत्र कृतेन सिद्ध्यति किमप्येतत्परं जायते, नश्यन्त्येव नरस्य मूढमनसो धर्मार्थकामादय: ॥६॥ उदेति पाताय रविर्यथा तथा, शरीरमेतन्ननु सर्वदेहि-

---

१ उन्मत्त स्त्री । २ इसके स्थानमें "शोक किये कछु सिद्धी नाहीं" ऐसा पाठ भी पढ़ सकते हैं । ३ धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ ।

तातैं अपना काल पाय जो, इष्ट—स्वजन मर जावैं ।
तापर शोक करै को भविजन, जो सुबुद्ध कहलावै* ॥७॥
वृक्षनपर लग कर झड़ पड़ते, पत्र फूल फल जैसे ।
जन्म कुलोंमें लेकर प्राणी, मरण लहैं है तैसे ॥
या विध नियम अखंडित लखिके, हर्ष शोक किम कीजे ।
बुधजन वस्तुस्वरूप विचारत, समता भाव धरीजे+ ॥८॥
दुर्निवार भावीवश मानुष, प्रियजन-मरण करेको ।
अन्धकारमें नृत्य करै वह, तिसपर शोक करै जो ॥
सन्मतिसे सब वस्तु जगतमें, नाशवन्त लखि भाई ।
सर्व दुखसंततिनाशक सेवहु, धर्म सदा मन लाई ॥ ९ ॥

नाम् । स्वकालमासाद्य निजे हि सस्थिते, करोति क शोकमतः प्रबुद्धधीः॥७॥ भवन्ति वृक्षेषु पतन्ति नून, पत्राणि पुष्पाणि फलानि यद्वत् । कुलेषु तद्वत् पुरुषाः किमत्र, हर्षेण शोकेन च सन्मतीनाम् ॥८॥ दुर्लंघ्याद्भवितव्यता व्यतिकरान्नष्टे प्रिये मानुषे, यच्छोकः क्रियते तदत्र तमसि प्रारभ्यते नर्त्तनम् । सर्वं नश्वरमेव वस्तु भुवने मत्वा महत्या धिया, निर्धूताखिलदुःखसततिरहो धर्मं सदा सेव्यताम् ॥९॥ पूर्वोपार्जित

---

* यह मूलका भावानुवाद है। शब्दानुवाद यह हो सकता है—दो० “पतन हेत रवि ज्यौं उगै, त्यौं नरदेह वखान। काल पाय हितु—नशत, को, कर है शोक सुजान।”

+ यह मूलका भावानुवाद है। शब्दानुवाद यह हो सकता है—

दो०—हों तरुपर निश्चय गिरैं, पत्र फूलफल जेम।
कुलमें नर त्यौं, सुबुधकै, हर्ष शोक फिर केम?”

१ श्रेष्ठबुद्धि—विवेकबुद्धि । २ समस्त दुःखोंकी परम्परा—परिपाटीको नाश करने-

पूर्व कर्मने जिस प्राणीका, अन्त लिखा जब भाई।
तिसका तब ही अन्त होय है, यह निश्चय उर लाई॥
छोड़ शोक मरनेपर प्रियके, सादर धर्म करीजे।
गया निकल जब साँप तासुकी, लीक पीट क्या कीजे?॥ १०
दुख नाशनको मूढ़ जगतमें, रुदनकर्म विस्तारैं।
ताहि कर्मवश दूर न दुख हो, नहिं ते सुख निर्धारैं॥
तिन मूढ़नको मूढ़शिरोमणि, हम निश्चय कर मानैं।
पाप और दुख हेत, इष्टके, मरत शोक जे ठानैं॥ ११ ॥
नहि जानै क्या नाहि सुनै तू, नाहिं क्या सन्मुख देखै?।
'कर्दलीवत निःसार जगत सब, इन्द्रजाल हो जैसे'॥
इष्ट मरण पर शोक करै क्या, मनुपाकार पशू रे!
जातें नित्य परम पद पावै, सो किंचित कर तू रे॥ १२॥

कर्मणा विलिखितं यस्यावसानं यदा, तज्जायेत तदैव तस्य भविनो ज्ञात्वा तदेतद्ध्रुवम्। शोकं मुञ्च मृते प्रियेऽपि सुखदं धर्मं कुरुष्वादरात्, सर्पे दूरमपागते किमिति भोस्तद्धृष्टिराहन्यते॥ १०॥ ये मूर्खा भुवि तेऽपि दुःखहतये व्यापारमातन्वते, सामाभूदथवा स्वकर्मवशतस्तस्मान्न ते तादृशा। मूर्खान्मूर्खशिरोमणीन्ननु वयं तानेवमन्यामहे, ये कुर्वन्ति शुचं मृते सति निजे पापाय दुःखाय च॥ ११॥ किं जानासि न किं शृणोषि ननु किं प्रत्यक्षमेवेक्षसे, निःशेषं जगदिन्द्रजालसदृशं रम्भेव सारोज्झितम्। किं शोकं कुरुषेऽत्र मानुषपशो लोकान्तरस्थे निजे, तत्किंचित्कुरु येन नित्यपरमानन्दास्पदं गच्छसि॥१२॥ जातो जनो म्रियते

---

१ आदरसहित–प्रीतिपूर्वक। २ सापके चलनेसे जो पृथ्वीपर निशान बन जाता है, लकीर। ३ मापा वा स्यापा। ४ केलेके थंभ समान। ५ इन्सानकी शकलके हैवान।

जो जन्मा सो निश्चय मर है, मृत्युदिवस जब आवे ।
तीन भुवनमें भी तब ताका, रक्षक कोई न थावे ॥
तातै जो प्रियजनके मरते, शोक करैं अधिकाहीं
करं पुकार वे रुदन करै है, मूढ विजन वन माहीं ॥१३॥

या जगमाहिं अनिष्ट योग अरु,-इष्टवियोग सुजानो ॥
पूर्व पापके फल ये दोनों, इम चेतन! उर आनो ॥
शोक करै किस हेतु? नाश कर, पाप, वृथा मत रोवै।
इष्टवियोग अनिष्टयोगका, जन्म न जातै होवै* ॥१४॥
प्यारि वस्तुके नष्ट हुए भी, शोकारँभ तब कीजे ।
जो हो उसका लाभ, सुयश, सुख; अथवा धर्म लहीजे ॥
चारोंमें से एक भी न जो, वहु प्रयत्नकर होई ।
वृथा शोक-राक्षसवश तब फिर, कौन सुधी जन होई? ॥१५

एव दिने च मृत्यो , प्राप्ते पुनस्त्रिभुवनेऽपि न रक्षकोऽस्ति । तद्यो मृते सति निजेऽपि शुचं करोति, पूत्कृत्य रोदति वने विजने स मूढ.॥१३॥ इष्टक्षयो यदिह ते यदनिष्टयोगः, पापेन तद्भवति जीव पुरा कृतेन । शोक करोपि किमु तस्य कुरु प्रणाशं, पापस्य तौ न भवतः पुरतोऽपि येन ॥१४॥ नष्टे वस्तुनि शोभनेऽपि हि तदा शोकः समारभ्यते, तल्लाभोऽथ यशोऽथ सौख्यमथवा धर्मोथवा स्याद्यदि । यद्येकोऽपि न जायते कथमपि स्फारैः प्रयत्नैरपि, प्रायस्तत्र सुधीर्मुधा भवति क शोकोग्ररक्षोवशः ॥१५॥ एकद्रुमे निशि वसन्ति यथा शकुन्ता., प्रातः प्रयान्ति सहसा

---

* मूलका सक्षिप्तानुवाद इस प्रकार हो सकता है—

दो० "योगअनिष्ट जु इष्टक्षय, पूर्व पापफल दोय ।
शोक करै क्या, पाप नश, जातैं दोउ न होय ॥"

एक वृक्षपर रात्रिसमय ज्यौं, पक्षी आय वसै हैं ।
प्रांत होय तब शीघ्रहि उठ सब, दशदिश गमन करैं हैं॥
त्यौं हि जीव इक कुलमें थितिकर, मरकर अन्य कुलनमें ।
जाय वसै, किस हेत सुबुधजन, शोक करैं तब मनमें ? ॥१६॥
तम अज्ञान छयो जगवन जहँ, दुःख-व्याल विचराहीं ।
दुर्गतिगेह सहाड कुपथकर, तहँ सब जीव भ्रमाहीं ॥
तामधि निर्मल ज्ञान प्रकाशक, गुरुवच दीप जगै है ।
ताको पाय विलोक सुपथको, सुखपद सुबुध लहै है ॥१७॥
जो निजकर्मरचित है भविजन, मरणघड़ी जग माहीं ।
जीव ताहिमें मरत नियमकर, पूर्व पिछाड़ी नाहीं ॥
तो भी मूरख ठान शोक अति, बहुदुखभागी होई ।
काल पाय इम मरण करै यदि, अपना प्रिय जन कोई ॥१८॥
तरुसे तरुपर पक्षि भ्रमर ज्यौं, पुष्पन पर उड़ जाहीं ।
त्यौं हि जीव भव छोड़ अन्य भव, धारै या जगमाहीं ॥

सकलासु दिक्षु । स्थित्वा कुले वत तथाऽन्यकुलानि मृत्वा, लोकाः श्रयन्ति विदुषा खलु शोच्यते क ॥१६॥ दु.खव्यालसमाकुल भववन जाड्यान्धकाराश्रित, तस्मिन्दुर्गतिपल्लिपाति कुपथैर्भ्राम्यन्ति सर्वेङ्गिन । तन्मध्ये गुरुवाक्प्रदीपममलज्ञानप्रभाभासुर, प्राप्यालोक्य च सत्पथ सुखपद याति प्रवुद्धो ध्रुवम् ॥१७॥ यंत्र स्वकर्मकृतकालकलाऽत्र जन्तुस्तत्रैव याति मरण न पुरो न पश्चात् । मूढास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय, शोकं पर प्रचुरदु खभुजो भवन्ति ॥ १८ ॥ वृक्षाद्वृक्षमिवाण्डजा

---

१ जब सवेरा होता है । २ हाथी । ३ दुर्गतिमें ले जानेवाले खोटे मार्गोंमें हो कर। ४ गुरुओंका वचनरूपी दीपक जल रहा है अर्थात् परमागम विद्यमान है । ५ मोक्षपद ।

तातैं जन्मत मरत स्वजनके, हर्ष न शोक करीजे।
या विध जीवनकी अस्थिरता, जान सुबुधजन लीजे ॥१९॥
भ्रमते काल अनंत जगतमें, जीव न नरपद पावै।
दुष्कुलमें यदि पावै भी तो, अघसे पुन नश जावै॥
सत्कुलमें आ गर्भहिं विनशै, लेते जनम मरै वा।
बचपनमें नश है तब वृष पा, क्यों तँह यत्न करै ना ॥२०॥
थिर सतरूप सदा जग भी पुन, उपजै विनशै ऐसे।
पर्यायान्तर कर कर क्षणक्षणमें, जलदपटल हो जैसे॥
तातैं जगमें जन्मत मरते, इष्ट जनोंके प्यारो।
हर्ष किये क्या? अहो शोककर,—क्या है साध्य? विचारो॥२१॥
सागर पर्वत देश नदिनको, मनुज लॉघकर जावै।
मरण घड़ीको पलक मात्र भी, देव न लँघने पावै॥

मधुलिहः पुष्पाच्च पुष्पं यथा, जीवायान्ति भवाद्भवान्तरमिहाश्रान्तं तथा संसृतौ। तज्जातेऽथ मृतेऽथवा नहि मुदं शोकं न कस्मिन्नपि, प्रायः प्रारभतेऽधिगम्य मतिमानस्थैर्यमित्यङ्गिनाम् ॥ १९ ॥ भ्राम्यन् कालमनन्तमत्र जनने प्राप्नोति जीवो न वा, मानुष्यं यदि दुष्कुले तदघतः प्राप्तं पुनर्नश्यति। सज्जातावथ तत्र याति विलयं गर्भेऽपि जन्मन्यपि, द्राग्बाल्येऽपि ततोऽपि नो वृष इति प्राप्ते प्रयत्नो वरः ॥२०॥ स्थिरं सदपि सर्वदा भृशमुदेत्यवस्थान्तरैः, प्रतिक्षणमिदं जगज्जलदकूटवन्नश्यति। तदत्र भवमाश्रिते मृतिमुपागते वा जने, प्रियेऽपि किमहो मुदा किमु शुचा प्रबुद्धात्मनः ॥ २१ ॥ लङ्घ्यते जलराशयः शिख-

१ उत्तम बुद्धिका धारक। २ पाप। ३ धर्मको पाकर। ४ तिस धर्ममें। ५ एक अवस्थासे दूसरी अवस्था धारण कर। ६ मेघपटल। ७ इष्ट प्रयोजन जो सिद्ध किया जाय।

तातैं मरण भये प्रिय जनके, सुखकर पुण्यविदारी।
सदा घोर दुखदाइ शोकको, कौन करै मतिधारी? ॥२२॥
स्वजन मरेपर जगमें मानव,–गण जो अति विललावैं।
जन्मत मोद करै तिहिं गणधर, वातुलता वतलावैं॥
जातैं जड़ता–दुश्चेष्टार्जित,– कर्मउदयवश जानो।
जन्ममरणपरिपाटीमय यह, सव जग नित्य वखानो ॥२३॥
वड़ी भ्रांति यह जग जीवनकी, अथवा जड़ता मानैं।
वहुदुखजालजटिल जगमें वसि, आपदि शोक जु ठानैं॥
भूत प्रेत चिंति फेरु अमंगल,–पूरण मरघट माहीं।
करिकै घर, भयदाइ वस्तुसे, को शंकै मन माहीं? ॥२४॥
गगनमाहिं ज्यौं चंद्र भ्रमै है, त्यौं जगमें नित प्राणी।
गति उदयास्त लहै वा त्यौं ही, हानी वृद्धि वखानी॥

रिणो देशास्तटिन्या जनै, सा वेला तु मृतेर्नृपक्ष्मचलनस्तोकापि देवैरपि। तत्कास्मिन्नपि सस्थिते सुखकर श्रेयो विहाय ध्रुव, क.सर्वत्र दुरन्त दु.खजनक शोक विदध्यात्सुधी. ॥ २२ ॥ आक्रन्द कुरुते यदत्र जनता नष्टे निजे मानुषे, जाते यच्च मुद तदुन्नतधियो जल्पन्ति वातूलताम्। यज्जाड्यात्कृतदुष्टचेष्टितभवत्कर्मप्रवन्धोदयान्मृत्यूत्पत्तिपरपरामयमिद सर्व जगत्सर्वदा ॥ २३ ॥ गुर्वी भ्रान्तिरिय जडत्वमथवा लोकस्य यस्माद्वसन्, ससारे वहुदु:खजालजटिले शोकी भवत्यापदि। भूतप्रेतपिशाचफेरवचितापूर्णे श्मशाने गृह, क· कृत्वा भयदादमगलकृते भावाद्भवेच्छकित: ॥ २४ ॥ भ्रमति नभसि चन्द्र: ससृतौ शश्वदङ्गी,

१ पुण्य कर्म धर्म कर्मको छोडकर। २ पागलपन, उन्मत्तता। ३ अज्ञानभाव और खोटे आचरणोंके द्वारा वॅधे हुए कर्मोंके आधीन। ४ आपदा और दु खके समयमें–मुसीवतके वक्तमें। ५ चिता। ६ शृगाल वा राक्षस। ७ उदय और अस्तगतिको प्राप्त होता है अर्थात् निकलता है और छिप जाता है। ८ घटना–वढना।

अथवा राशीसे राशीको, गमन करै शशि[1] जैसे।
तनु तज तनु धारै कलुपित[2] जिय, हर्ष शोक फिर कैसे ? ॥२५
विजुरी सम क्षणभंगुर यह सब, सुतदारादिक जानो।
नाश भये तिन खेद करै किम ? जो नर चतुर सयानो ॥
उपजन विनशन थितिधारन[3] यह, शीलैं[4] सभी द्रव्योंका।
अग्निशील जिम उष्णपनो है, नहिं यामैं कहुँ धोका ॥ २६ ॥
मृत्यु शोकसे इष्ट जननके, उपजै कर्म असाता[5]।
ताकी पुन वहु शाखा फैलै, जीव माहिं दुखदाता ॥
छोटासा वट-बीज खेतमे, बोया ज्यौं भवि प्राणी !
बहु विस्तार धरै त्यौं यह लखि, शोक तजो अघखानी ॥ २७
क्षण क्षणमें जो आयू छीजै, ताको यमसुख जानो।
तामें प्राप्त भये सब ही जन, मृतक शोक किम ठानो ? ॥
जो यमगोचर नाहिं जगतमें, हुआ न कवहूँ होई।
वह ही शोभै मृतक शोक कर, नाहिं अन्य जन कोई ॥२८-२९

लभत उदयमस्त पूर्णता हीनता च। कलुपितहृदयः सन् याति राशिं च राशेस्तनुमिह तनुतस्तत्कोऽत्र मुत्कश्च शोकः ॥ २५ ॥ तडिदिव चलमेतत्पुत्रदारादिसर्वं, किमिति तदभिघाते खिद्यते बुद्धिमद्भिः। स्थितिजननविनाश नोष्णतेवानलस्य, व्यभिचरति कदाचित् सर्वभावेपु नूनम् ॥ २६ ॥ प्रियजनमृतिशोक सेव्यमानेति मात्र, जनयति तदसात कर्म यच्चाग्रतोऽपि। प्रसरति शतशाख देहिनि क्षेत्र उप्त, वट इव तनुबीज त्यज्यता सप्रयत्नात् ॥ २७ ॥ आयु क्षतिः प्रतिक्षणमेतन्मुखमन्तकस्य तत्र गताः। सर्वे जनाः किमेक शोचयत्यन्य मृत मूढः ॥ २८ ॥ यो नात्र गोचर मृत्योर्गतो

---

१ चन्द्रमा। २ मलिन हृदय हुआ। ३ उत्पाद व्यय ध्रौव्य। ४ स्वभाव। ५ वह कर्म जिसके उदयसे दु ख होता है—दु खकी सामग्री मिलती है।

पहले ऊँचा चढ़कर दिनेकर, अपनो तेज प्रकाशै।
उस ही दिन पुन नीचें उतरें, पतन आपनो भासै॥
यह निश्चय सत जान कौन है, मानुष वे जगमाहीं।
पर्यायनके पलटत जिनके, उरमें शोक बसाहीं?॥३०॥

शशि सूरज अरु पवन खगादिक, नभमें ही विचरें हैं।
गाड़ी घोड़ा आदिक थलचर, भूपर गमन करें हैं॥
मीनादिक जलमाहिं चलें, यम;—सर्व ठौर विचरें है।
मुक्ति विना किस थान जीवकें, वचैवो चतन सरें है॥३१॥

कर्मउदयके सन्मुख क्या है, देव देवता भाई?।
वैद्य मंत्र औषधि क्या कर है, मणिविद्या चतुराई?॥
तैसे ही है मित्र वाऽन्य भू—पादि लोक त्रय माहीं।
ये सब मिलकर भी कर्मोदय,—टारन समरथ नाहीं॥३२॥

याति नयात्यति। न हि शोकं मृते कुर्वन् शोभते नेतरः पुमान्॥२९॥ प्रथममुदयमुच्चैर्दूरमारोहल्लक्ष्मी,—मनुभवति च पातं सोऽपि देवो दिनेशः। यदि किल दिनमध्ये तत्र केषां नराणां, वसति हृदि विषाद स्त्स्ववस्थान्तरेषु॥३०॥ आकाश एव शशिसूर्यमरुत्खगाद्या, भूपृष्ठ एव शकटप्रमुखाश्चरन्ति। मीनादयश्च जल एव यमस्तु याति, सर्वत्र कुत्र भविना भवति प्रयत्नः॥३१॥ किं देवः किमु देवता किमगदो विद्यास्ति किं किं मणिः, किं मंत्रं किमुताश्रयः किमु सुहृत्किं वा सगन्धोऽस्ति सः। अन्ये वा किमु भूपतिप्रभृतयः सन्त्यत्र लोकत्रये यैः सर्वैरपि देहिनः स्वसमये कर्मोदितं वार्यते॥३२॥ गीर्वाणा

---

१ सूर्य। २ आकाश। ३ वचनेवाँ तदबीर चल सकती है। ४ कर्मके उदयको टालनेके लिये।

अणिमादिक ऋद्धि धारक किम, देव समर्थ वखानो।
ध्वस्त भये जव वे रावण कर, तिहि वल भी क्या मानो॥
राम मनुजने जाको मारा, उलॅघ अम्बुराशीको।
हुवो राम भी सो यमगोचर, विधिसे अन्य वली को ?॥२३॥
व्याप रहा है शोक दवानल, इस भव वनके माहीं।
मूढ लोक–मृग नारि–मृगीमें, लीन तहाँ निवसाहीं॥
कालव्याध निर्दई सदा इन, सन्मुख पाय–सभोंको।
नाश करै, शिशु तरुण वृद्ध भी; तासे नाहिं वचै को॥२४॥
सम्पत रूप लतायुत वनिता,–वेलालिंगित जानो।
पुत्रादिक प्रिय पत्र तथा रति,–सुखफल सहित प्रमानो॥
इम उपजा भव वनमें जन तरु, कालदवानलसे जो।
व्याप्त न हो तो फेर अन्य क्या, वुधजन अवलोकै को ?॥२५॥
वॉछैं हैं सुख मनुज जगतमें, कर्म दिया पर पावैं।
निश्चय मरण लहै हैं सव जन, तदपि तासु भय खावैं॥

अणिमादि सुस्थमनसः शक्ता किमत्रोच्यते, ध्वस्तास्तेऽपि परपरेण सपरस्तेभ्य कियान् राक्षसः। रामाख्येन च मानुषेण निहितः प्रोल्लङ्घ्य सोप्यम्बुधिम्, रामोप्यन्तकगोचरः समभवत्कोऽन्यो वलीयान्विधेः॥ २३॥ सर्वत्रोद्गतशोकदावदहनव्याप्त जगत्कानन,मुग्धास्तत्र वधूमृगीगतधियस्तिष्ठन्ति लोकैणकाः। कालव्याध इमान्निहन्ति पुरतः प्राप्तान् सदा निर्दय–स्तस्मा‌‌ज्जीवति नो शिशुर्न च युवा वृद्धोपि नो कश्चन॥ २४॥ सम्पच्चारुलतः प्रिया परिलसद्वल्लीभिरालिंगितः पुत्रादिप्रियपल्लवो रतिसुखप्रायैः फलैराश्रितः। जात ससृतिकानने जनतरुः कालोग्रदावानल,–व्याप्तश्चेन्न भवेत्तदा वत बुधैरन्यत्किमालोक्यते॥ ३५॥ वाछन्त्येव सुख तदत्र

---

१ पीडित। २ समुद्र। ३ वालक, जवान, और वूढा। ४ तो भी मरनेसे डरते हैं।

इम इच्छा भय माहिं लीन चित, व्यर्थ मोहवश मानी ।
दुख-लहरनयुत भवसमुद्रमें, पड़े कुमति अगवानी ॥ ३६ ॥

इंद्रिय सुख जलमें क्रीड़त नित, जगतसरोवर माहीं ।
यम धीवर कर बूढ़ापनको, जाल जहाँ पसराहीं ।
तामें फँसकर लोकरूप यह, दीन मीन समुदाई ।
निकट प्राप्त भी घोर आपदा,-ओंको देखत नाहीं ॥ ३७ ॥

सुन गत जीवनको यमगोचर, [१] देख वहुतको जाते ।
मोह है (!) यह मानै तो भी नर, आतम थिरता जाते ॥
वृद्धाऽवस्था प्राप्त भये भी, जो न धर्म चित लावै ।
अधिक अधिक वह पुत्रादिक वं,-धनकर आत्म वॅधावै ॥३८॥

निखिल संधि वन्धनयुत तनु अंघ,-कर्म शिलिप निर्मायो ।
मलदोपादि भरो पुन नश्वर, विनशत वार न जाको ॥

विधिना दत्त पर प्राप्यते, नून मृत्युमुपाश्रयन्ति मनुजास्तत्राप्यतो विभ्यति । इत्थ कामभयप्रसक्तहृदया मोहान्मुधैव ध्रुव, दु.खोर्मिप्रचुरे पतन्ति कुधिय. ससारघोरार्णवे ॥ ३६ ॥ स्वसुखपयसि दिव्यन्मृत्युकैवर्त्तहस्त· प्रसृतघन-जरोरुप्रोल्लसज्जालमध्ये । निकटमपि न पश्यत्यापदा चक्रमुग्र, भवसरसि वराको लोकमीनौव एप ॥ ३७ ॥ शृण्वन्नन्तकगोचर गतवत. पश्यन् वहून् गच्छतो, मोहादेव जनस्तथापि मनुते स्थैर्य परंह्यात्मन· । सप्राप्तेऽपि च वार्द्धके स्पृहयति प्रायो न धर्माय य,—त्तद्बध्नात्यधिकाधिकं स्वमसत्कपुत्रादिभिर्वन्धनै ॥ ३८ ॥ दुश्चेष्टाकृतकर्मशिल्पिरचित दु सन्धि

१ पापकर्मरूपी शिल्पकार (कारीगर) का वनाया हुआ । २ नाश होने-वाला ।

आधि व्याधि जरा मरणादिक जो, हो तो चित्र न यहाँ को
अचरज है बुधजन भी तनुमें, अवलोके थिरता जो ॥ ३९ ॥

सागरान्त भूभोगी वांछित, लक्ष्मी जगमें पाई ।
पाये वे रमणीय विषय जो, सुर दुर्लभ है भाई ॥
पर पीछै आवेगी मृत्यू, तातें ते सब प्यारो ।
विषमिश्रित भोजन सम धिग है, मुक्ति विचार जु सारो ॥४०

रणमें तब तक समरथ रथ गज,–अश्व; वीर गर्वी है ।
मंत्र पराक्रम खड्ग तभी तक, साधक कार्य सभी हैं ॥
जब तक भूखा भक्षणइच्छुक, निर्दय काल जु मानो ।
कुपित होय नहिं दौड़ै सन्मुख; तासु यत्न बुध ठानो ॥४१॥

राजा भी क्षणमें विधिवश कर, अवश रंक हो जावै ।
सर्व व्याधिसे रहित तरुण भी, शीघ्र नाशको पावै ॥

दुर्बन्धनम्, सापायस्थितिदोपधातुमलवत्सर्वत्र यन्नश्वरम् । आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतयो यच्चात्र चित्रं न त,–त्तच्चित्रं स्थिरता बुधैरपि वपुष्यत्रापि यन्मृग्यते ॥३९॥ लब्धा श्रीरिह वाछिता वसुमती भुक्ता समुद्रावधिः, प्राप्तास्ते विपया मनोहरतरा स्वर्गेऽपि ये दुर्लभा.। पश्चाच्चेन्मृतिरागमिष्यति ततस्तत्सर्वमेतद्विपा,–श्लिष्ट भोज्यमिवाति रम्यमपि धिग्मुक्तिं परं मृग्यताम् ॥ ४० ॥ युद्धे तावदलं रथेभतुरगा वीराश्च दृप्ता भृशम्, मन्त्राः शौर्यमसिश्च तावदतुला. कार्यस्य ससाधकाः । राज्ञोऽपि क्षुधितोऽपि निर्दयमना यावज्जिघत्सुर्यम., क्रुद्धो धावति नैव सन्मुखमितो यत्नो विधेयो बुधैः ॥ ४१ ॥

---

१ मानसिक दुःख । २ जरा बुढापा । ३ आश्चर्य । ४ समुद्रपर्यंत पृथ्वी । ५ विष (जहर) मिला हुआ । ६ तिसकालसे बचनेका उपाय (मोक्षकी प्राप्तिका उपाय) ।

औरनसे क्या? साररूप जे, धन जीवन दो जानो।
तिनकी ऐसी थिंति जगमें तब, किसमें बुध मद ठानो॥४२॥
मुंष्टीसे वह व्योम हनै वा, शुष्कं नदीको तिर है।
व्याकुल हो, वा मत्त हुआ तृ,-ष्णांतुर मृगजल पिव है॥
ऊंचे पर्वतशिखरपवनकर,-कम्पित दीप समानी।
धन कांन्ता सुत आदिकमें मद,-कर नर जो है मानी॥४३॥
व्याध-मृगी चपला लक्ष्मीको, भूपतिमृग अपनाई।
पुत्रादिक अन मृगन क्रोध कर, मारैं ईर्पा लाई॥
तीर चढ़ाये धनुप भयंकर, भूपित है निश्चै जो।
कुपित रूप सन्मुख आया भी, काल न व्याध लखै सो॥४४॥

राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रङ्कायते निश्चितम्, सर्वव्याधिविवर्जितोऽपि तरुणोप्याशु क्षयं गच्छति। अन्यैः किं किल सारतामुपगते श्रीजीविते द्वे तयोः, ससारे स्थितिरीदशीति विदुषा कान्यत्र कार्यो मदः॥४२॥
हन्ति व्योम स मुष्टिनाथ सरित शुष्का तरत्याकुल-स्तृष्णार्तोऽथ मरीचिकाः पिबति च प्रायः प्रमत्तो भवन्। प्रोत्तुगाचलचूलिकागतमरुत्प्रेंखत्प्रदीपोपमै-र्यः सम्पत्सुतकामिनीप्रभृतिभिः कुर्यान्मद मानवः॥४३॥
लक्ष्मीं व्याधमृगीमतीव चपलामाश्रित्यभूपा मृगाः, पुत्रादीनपरान्मृगानतिरुषा निघ्नन्ति सेर्ष्यं किल। सज्जीभूतघनापदुन्नतधनु सलग्नसद्दृच्छर, नो पश्यन्ति समीपमागतमपि क्रुद्ध यम लुब्धकम्॥४४॥
मृत्योर्गोचरमागते निजजने मोहेन यः शोककृत्, नो गधोऽपि गुणस्य तस्य बहवो दोषाः पुनर्निश्चितम्। दुःख वर्द्धत एव नश्यति चतुर्वर्गो मतेर्विभ्रमः, पाप रुक्च मृतिश्च दुर्गतिरथ स्याद्दीर्घससारिता॥४५॥

---

१ स्थिति-हालत। २ मुष्टीसे-मुक्केसे। ३ आकाश। ४ खुश्क-सूखी हुई। ५ प्यास कर पीड़ित हुआ। ६ मरीचिका-मृगतृष्णा। ७ स्त्री। ८ लक्ष्मीरूपी अतिचचल और शिकारीकर पकडी हुई मृगीको।

मोही होकर शोक करै जो, इष्ट मरणपर कोई ।
लाभ न ताको रंच मात्र पर, हानी निश्चय होई ॥
दुःख बढ़ै धर्मादि नशैं अरु, मति-विभ्रम हो जाई ।
पाप रोग मृत्यू पुन दुर्गति, तातैं जगत भ्रमाई ॥४५॥
यह जग है सब दुःखनिधाना, जब ह्याँ रहना ठाना ।
दुःख माहिं किस हेतु सुजन तब, चित अपना अकुलाना ? ॥
जो अपना घर बांधि रहै है, मनुष चतुष्पथमाहीं[2] ।
लंघन[3] आदि उपद्रवसे सो, क्यों शंकै मनमाहीं ?* ॥४६॥
क्या उसको वातूल[4] कहैं वा, भूताविष्ट[5] बखानैं ?
भ्रान्तचित्त क्या उसको जानै, वा उन्मत्त प्रमानैं ?
जीवनादिको विद्युत सम चल, जो देखै अरु जानै ।
कर्णनसे अपने पुन सुन है; तौ हु न निज हित ठानै ॥४७॥
'हा ! मैं याको औषधि नहिं दी, मान्त्रिकको[6] न दिखाया' ।
या विध शोक न करना बुधजन, स्वजन तजै जब काया ॥

आपन्मयससारे क्रियते विदुषा किमापदि विषाद' । कस्त्रस्यति लंघनतः प्रविधाय चतुष्पथे सदनम् ॥४६॥ वातूल एष किमु किं ग्रहसगृहीतो, भ्रान्तोऽथवा किमु जन' किमथ प्रमत्त' । जानाति पश्यति शृणोति च जीवितादि, विद्युच्चल तदपि नो कुरुते स्वकार्यम् ॥४७॥ दत्त नौषधमस्य नैव कथित. कस्याप्यय मत्रिणो, नो कुर्याच्छुचमेवमुन्नतमतिर्लोकान्त-

---

१ बुद्धिका बिगड जाना—अकलमें फतूर आ जाना। २ चौराहा। ३ उल्लघन—लाघकर जाना। ४ पागल। ५ जिसपर भूतका असर हो रहा हो। ६ मन्त्रवादी—स्याना। * मूलका सक्षिप्तानुवाद इस प्रकार हो सकता है—

दो० "विपतमई जगमें सुजन, क्या विषाद दुखमाहिं ।
लंघनेसे तब को डरै. करि घर चतुपथ माहिं ॥

जातैं काल समीप मनुजके, शिथिल यत्न सब होवैं ।
जल छिड़कत दृढ चार्मिक बन्धन, जिम ढीले पड़ जावैं ॥४८॥
कालादिक लहि तेजयुक्त जो, कर्म सिंह बलधारी ।
ताकरि पकड़ो शरणरहित भव, वनमें जन अविचारी ॥
'मेरी भार्या मेरा धन–गृह, मेरा सुत परिवारा ।'
अजसुत सम इम 'मे मे' करता, मरण लहै बेचारा ॥४९॥
यम कर अतिशय पीड़ित ऐसी, आयु आपनी जानो ।
दिन हैं गुरुतर खंड तासुके, यह निश्चय उर आनो ॥
तिनको नित निज सन्मुख खिरते, लखिकर भी भविप्राणी ।
अपनेको थिर मान रहो जो, सो क्यौं नहिं अज्ञानी ॥५०॥
इंद्र चंद्र आदिक भी निश्चय, कालगाल जब जावैं ।
निर्बल जन अल्पायु कीटसम;–की क्या बात सुनावैं ? ॥
स्वजन मरणपर तातैं भविजन, मोह वृथा मत कीजे ।
काल न तनुमें खेलै जाकर, शीघ्र आत्म लख लीजे ॥५१॥

रस्थे निजे । यत्नायान्ति यतोङ्गिनः शिथिलता सर्वे मृते सन्निधौ, बन्धाश्चर्मविनिर्मिताः परिलसद्वर्षाम्बुसिक्ता इव ॥ ४८ ॥ स्वकर्मव्याघ्रेण स्फुरितनिजकालादिमहसा, समाघ्रातः साक्षाच्छरणरहिते संसृति वने । प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे मे गृहमिदम्, वदन्नेव मे मे पशुरिव जनो याति मरणम् ॥ ४९ ॥ दिनानि खडानि गुरूणि मृत्युना, विहन्यमानस्य निजायुषो भृशम् । पतन्ति पश्यन्नपि नित्यमग्रतः, स्थिरत्वमात्मन्यभिमन्यते जडः ॥ ५० ॥ कालेन प्रलयं व्रजन्ति नियतं तेऽपीन्द्रचन्द्रादयः, का वार्त्तान्यजनस्य कीटसदृशोऽशक्तेरदीर्घायुषः । तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे मोहं वृथा मा कृथाः, कालः क्रीडति नात्र येन सहसा तत्किंचिदान्विष्यताम् ॥ ५१ ॥ संयोगो यदि विप्रयोगविधिना न्मे

१ नाँते–नातेके । २ [illegible] के समान ।

जो संयोग वियोग सहित वह, जन्ममृत्युयुत मानो ।
संपत विपदासे सुखदुखसे, निश्चय व्याप्त सुजानो ॥
वारवार गति जाति अवस्था;-धर वहुविध जगमाहीं ।
जीव नचै, नहिं हर्षशोक तव, कवहुँ सन्त मनमाहीं ॥ ५२ ॥

अपने हितकी चिन्ता निश दिन, लोक करै मनमाहीं ।
पर भावी अनुसार होय सव, यामें संशय नाहीं ॥
तातैं फैले तीव्र मोह वश, वहुविकल्प, तिन त्यागी ।
रागद्वेष विषरहित, सदा सुख,-में तिष्ठैं वड़भागी ॥ ५३ ॥

भविजन! यह घर नारी सुत अरु, जीवन आदिक जानो ।
पवनप्रताड़ित ध्वजावस्त्रसम, चंचल सकल वखानो ॥
छोड़ धनादिक मित्रनमें यह, मोह महा दुखदाई ।
'जुगल' धर्ममें प्रीति करो अव, अधिक कहैं क्या भाई ?॥५४॥

तन्मृत्युना, सम्पच्चेद्विपदा सुख यदि तदा दुःखेन भाव्य ध्रुवम् । ससारे ऽत्र मुहुर्मुहुर्वहुविधावस्थान्तरप्रोल्लस-द्वेपान्यत्वनटीकृताङ्गिनि सतः शोको न हर्ष· क्वचित् ॥ ५२ ॥ लोकाश्चेतासि चिन्तयन्त्यनुदिन कल्याणमेवात्मनः, कुर्यात्सा भवितव्यताऽऽगतवती तत्तत्र यद्रोच्यते । मोहोल्लासवशादति प्रसरतो हित्वा विकल्पान् वहून्, रागद्वेषविषोज्झितै-रिति सदा सद्भि. सुख स्थीयताम् ॥ ५३ ॥ लोका गृहप्रियतमासुतजी-वितादि,-वाताहतध्वजपटोग्रचल समस्तम् । व्यामोहमत्र परिहृत्य-धनादिमित्रे धर्मे मतिं कुरुत किं वहुभिर्वचोभिः ॥ ५४ ॥ पुत्रादिशो-कशिखिशान्तकरी यतीन्द्र,-श्रीपद्मनन्दिवदनाम्बुधरप्रसूतिः । सद्बो-

---

१ घिरा हुआ । २ जिस प्रकार झडेका कपडा तेज हवासे चलायमान होता है, उसी प्रकार यह सब (स्त्रीपुत्र धन जीवनादिक) चचल है, स्थिर रहनेवाले नहीं ।
लंघनेसे तब को डर,

पद्मनन्दि मुनिमुख जलधरसे, उपजी भविसुखकारी।
पुत्र मित्र भार्यादि शोक आ,-ताप मिटावनहारी॥
अमृतवृष्टि, सुबोध धान्यकी; 'जुगल' जन्मदातारी।
जयवन्ती वर्त्तो जगमें यह, अथिरभावना प्यारी॥ ५५॥

इति अनित्यभावना।

धशस्य जननीजयतादनित्य,—पचाशदुन्नतधियाममृतैकवृष्टिः ॥ ५५ ॥

इति श्रीअनित्यपचाशत् ॥

[illegible] ४ अनित्य भावना।

दशानुप्रेक्षा।

हिंदीटीक —

पं० लालारामजी जैन,

चावली ( )

विज्ञप्ति ।

आकलूज निवासी श्रेष्ठिवर्य गांधी नाथा रंग-जीने ४२८।=) एकवार इस संस्थामें ग्रंथोंके जीर्णो-द्धार करनेके लिये प्रदान किये थे और उससे जैनेंद्र प्रक्रिया छपी थी उसके बाद क्रमशः न्योछावर उठ आने पर दूसरी वार संस्कृत प्रवेशिनी प्रथम भाग, तसिरवार द्रव्यसंग्रह सान्वयार्थ छपे थे अब चौथी वार यह द्वादशानुप्रेक्षा छपायी जाती है ।

इस तरह एकवार दान देकर सैकडों ग्रंथोंका जीर्णोद्धार करानेवाले महाशयोंको इस संस्थाका अवश्य २ दानी सहायक बनना चाहिये ।

निवेदक—

श्रीलाल जैन

मंत्री भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था

९ विश्वकोष लेन, बागबाजार कलकत्ता ।

सनातन जैनग्रंथमाला ।

२३

श्रीसोमदेवसूरि विरचित

द्वादशानुप्रेक्षा ।

यशस्तिलकचम्पू काव्यसे

उद्धृत.

वसंततिलका छंद ।

उत्सृज्य जीवितजलं बहिरन्तरेते
रिक्ता विशंति महतो जलयंत्रकल्पाः।
एकोद्यमं जरति यूनि महत्यणौ च
सर्वंकषः पुनरयं यतते कृतान्तः ॥

अर्थ— जिसप्रकार अरहटकी घडीके बडे कूपके भीतर

होकर फिर जल भरनेके लिए भीतर चले जाते हैं उसीप्रकार यह श्वासोच्छ्वासकी वायु भीतरसे जीवनरूपी जलको भर कर लाती है और उसे बाहर फेंककर खाली होकर फिर उसी जीवनरूपी जलको भरनेके लिये भीतर चली जाती है। इसका यह क्रम रात दिन प्रतिक्षण चलता रहता है और इसप्रकार प्रतिक्षण जीवन घटता रहता है। सबको दुःख देनेवाला दावानल अग्निके समान, और सबको प्रत्यक्ष होनेवाला यह यमराज बूढ़ोंको, जवानोंको, राजा महाराजा आदि महा पुरुषोंको और दरिद्री आदि छोटे पुरुषोंको नाश करनेके लिये ही एक मात्र सदा प्रयत्न करता रहता है। इसके सिवाय उसे और कुछ काम है ही नहीं।

भावार्थ— हमलोगोंका जो श्वासोच्छ्वास प्रतिक्षण चलता रहता है उसीके द्वारा हम लोगोंकी आयु प्रतिक्षण कम होती जाती है जोकि एक दिन अवश्य पूरी हो जायगी इसके सिवाय यमराज प्रतिक्षण जीवोंको भक्षण करनेके उद्योगमें लगा रहता है, आयु पूरी होने पर तो वह उठा ही ले जाता है परन्तु कभी २ वह बिना आयु पूरी हुए भी उठा ले जाता है इसलिये प्रत्येक प्राणीको मरनेके लिये सदा तैयार रहना चाहिये। इस मनुष्य जन्मको पाकर सबसे पहिले रत्नत्रयकी प्राप्ति कर लेना चाहिये जिससे कि बीच में भी पर्याय बदल जाने पर किसी प्रकारका दुःख न हो और मनुष्य जन्म स

से ही यह जीव अनन्त सुखी हो सकता है अन्यथा नहीं। इस श्लोकमें जीवनका अनित्यपना दिखलाया है।

लावण्ययौवनमनोहरणीयताद्याः
कायेष्वमी यदि गुणाश्चिरमावसन्ति।
सन्तो न जातु रमणीरमणीयसारं
संसारमेनमवधीरयितुं यतन्ते ॥ २ ॥

अर्थ— यदि इस शरीरमें लावण्य, यौवन, सुन्दरता, रूप, सौभाग्य आदि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले गुण सदा बने रहते, नष्ट न होते तो सुन्दर स्त्रियोंके द्वारा अत्यन्त मनोहर दिखाई देनेवाले इस प्रत्यक्ष संसारको सज्जन लोग कभी छोडनेका प्रयत्न नहीं करते। भावार्थ—लावण्य यौवन आदि शरीरके गुण इस शरीरमें सदा नहीं रहते, वे हाथकी अंजलिके जलके समान क्षण क्षणमें नष्ट होते रहते हैं और नष्ट होकर फिर वे कभी दिखाई नहीं देते। इसीलिए तीर्थंकर आदि सज्जन पुरुष ऊपरसे मनोहर दिखाई देनेवाले पर वास्तवमें अत्यन्त घृणित इस संसारको छोडकर मोक्षमें जा विराजमान हुये हैं। यही समझकर भव्य जीवोंको संसारको छोडनेका सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। इस श्लोकमें रूप लावण्यपना आदिको अनित्य दिखलाया है।

उच्चैः पदं नयति जंतुमधः पुनस्तं

प्यत्यतीव जननीवनितासुखाय

ताः सूतवत्करगता अपि विप्लवन्ते ॥ ३॥

अर्थ— जिसप्रकार वेगवाला वायुका समूह धूलिके समूहको पहिले तो उड़ाकर ऊंचा ले जाता है और फिर उसे नीचे गिरा देता है, उसी प्रकार यह चंचल विभूति (चंचल ऐश्वर्य) इस प्राणीको पहले तो राज्यादिक पदमें स्थापन कर बहुत ऊंचा चढा देती है और फिर रंक दरिद्र बनाकर वा नरकमें ढकेलकर बहुत नीचा गिरा देती है । ये संसारके प्राणी उत्तम स्त्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखकेलिये अत्यन्त दुःखी होते हैं उसके लिये सेवा खेती व्यापार आदि संसारके व्यापार धंधे करते हैं और रातदिन दुखी होते हैं । परंतु वे स्त्रियां बडे प्रयत्नसे मुट्ठीमें बांधे हुए पारेके समान हाथमें रहते हुए भी नष्ट हो जाती हैं। भावार्थ—जिस प्रकार राज्यादिक लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती उसी प्रकार इन्द्रियोंके सुख भी स्थिर नहीं रहते। ये दोनों ही विजलीके समान बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं । इस श्लोकमें राज्यादिक लक्ष्मीको और ऐंद्रियक सुखोंको अनित्य वतलाया है ॥

शूरं विनीतमिव सज्जनवत्कुलीनं,

विद्यामहान्तमिव धार्मिकमुत्सृजन्ती ।

चिन्ताज्वरप्रसवभूमिरियं हि लोके,

अर्थ—लक्ष्मी जिस प्रकार विनय करनेवाले पुरुषको छोड देती है उसी प्रकार सहस्रभट लक्षभट और कोटिभट (हजार, लाख और करोड मनुष्योंके समान बल रखनेवाले) पुरुषोंको हरा देनेवाले (नष्ट कर देनेवाले) अत्यंत शूरवीर पुरुषको छोड देती है अर्थात् यह विनयवानको भी छोड देती है और शूरवीरको भी छोड देती है तथा जिसप्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए पुरुषको छोड देती है उसी प्रकार परोपकारी सज्जनको भी छोड देती है। जिस प्रकार विद्यावानको सबसे बडे विद्वानको छोड देती है उसी प्रकार धर्मात्माको छोड देती है। भावार्थ—यह लक्ष्मी शूरवीर, विनयवान्, सज्जन, कुलीन, विद्वान्, धार्मिक आदि सबको छोड देती है किसी उत्तम पुरुषके पास भी नहीं ठहरती। इसके सिवाय यह लक्ष्मी चिंता वा आर्तध्यानसे उत्पन्न हुए ज्वर वा संतापको उत्पन्न करनेकी भूमि है। जिस प्रकार भूमिसे सब धान्य उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार इस लक्ष्मीसे ही सब प्रकारकी चिंताएं सब प्रकारके आर्तध्यान उत्पन्न होते हैं जिससे यह जीव सदा संतप्त ज्वर चढेके समान नितांत दुखी बना रहता है। इतना होने पर भी यह लक्ष्मी ठहरती नहीं, दुष्ट पुरुषकी मित्रताके समान थोडी देरतक ही प्रेम रखती है। लिखा भी है "अभ्रच्छाया तृणादग्निः खले प्रीतिः स्थले जलम्। वेश्यारागः कुमित्रं च षडेते बुद्बुदोपमाः।" अर्थात् बादलकी छाया,

तृषाकी अग्नि, दुष्टमें किया हुआ प्रेम, सूखीभूमिपर पड़ा हुआ जल, वेश्याका अनुराग और कुमित्र ये सब बुद्बुदाके समान हैं। भावार्थ—यह लक्ष्मी सब उत्तम पुरुषोंको छोड़ देती है, चिंता आदिके द्वारा इस जीवको सदा दुखी करती रहती है और फिर भी क्षणभरमें नष्ट हो जाती है ऐसी यह लक्ष्मी लोगोंको व्यर्थ ही पापी बना रही है क्योंकि 'लोभ-मूलानि पापानि' पाप सब लोभसे ही होते हैं। यह जीव लक्ष्मीके लिये लोभ करता है और लोभसे अनेक पाप करता है फिर भी वह लक्ष्मी उसे सदा सन्तप्त किये रहती है और छोड़कर शीघ्र चली जाती है। ऐसी लक्ष्मीके लिये बार बार धिक्कार हो।

वाचि भ्रुवोर्दृशि गतावलकावलीषु
यासां मनःकुटिलतास्तटिनीतरंगाः।
अन्तर्न मान्त इव दृष्टिपथे प्रयाताः
कस्ता करोतु सर स्तरलायताक्षीः॥५॥

अर्थ—अरे! जिन स्त्रियोंके मनकी कुटिलतारूपी नदी की लहरें उनके अन्तरंगमें-हृदयमें न समासकीं इसीलिए वे उनके वचनोंमें, भोहोंमें, नेत्रोंमें, गमनमें, और केश पाशोंमें प्रत्यक्ष दिखाई देने लगीं ऐसी उन चंचल और दीर्घनेत्रवाली स्त्रियोंको भला ऐसा कौन पुरुष है जो सरल कर सके?

भावार्थ—स्त्रियोंका हृदय कुटिलतारूपी लहरोंसे लबालब भरा हुआ है जिसपर वह कुटिलता इतनी भरी हुई है कि हृदयमें न समा सकनेके कारण वचन, भौंह, नेत्र, गमन, केश आदि सबमें भर गई है जोकि लोगोंको प्रत्यक्ष दिखाई देती है। ऐसी स्त्रियोंको भला कौन सरल कर सकता है अथवा उनसे कौन सुखी हो सकता है? कोई नहीं। इसीलिये ऐसी इन कुटिल स्त्रियोंसे अलग रहना ही अच्छा है इसीमें मनुष्यका सुख वा हित है।

संहारवद्धकवलस्य यमस्य लोके
कः पश्यतोऽरावेधेरवधिं प्रयातः।
यस्माज्जगत्त्रयपुरीपरमेश्वरोऽपि।
तत्राहितोद्यमगुणे विधुरावधानः॥ ६॥

अर्थ—यह यमराज जीवोंका संहार करनेके लिये उन्हें खानेके लिये अपनी पाचों अंगुली मिलाकर गस्सा बनाये सदा तैयार बैठा रहता है इसके सिवाय उसने सुनारके समान देखते देखते चुरानेका काम प्रारम्भ कर रक्खा है। यह देखते देखते रक्षा करते करते जीवोंको उठा ले जाता है ऐसे इस यमराजकी सीमा तक भला कौन पुरुष इस संसारमें पहुंच ा है? कोई नहीं। क्योंकि जिस समय यह यमराज अपना उत्साह गुण प्रगट करता है, तैयार होता है, उस तीनों लोकके स्वामी भगवान तीर्थंकर परमदेवका प्रयत्न भी निष्फल हो जाता है।

भावार्थ—इस संसारमें कोई भी जीव यमराजकी सीमाके बाहर नहीं जा सकता यहां तककि तीर्थंकर परमदेव भी इससे नहीं बच सकते, इसके सामने सबको अपना मस्तक झुकाना पडता है और चुपचाप इसके साथ हो लेना पडता है। यहां पर इतना और लेना चाहिये कि आयु कर्म का अन्त होना ही यमराज कहलाता है। यमराज कोई और देव वा राक्षस नहीं है। आयुके अन्त होने पर सबको पर्यायांतर होना ही पडता है॥ ६॥

इत्थं क्षणक्षयहुताशमुखे पतन्ति
वस्तूनि वीक्ष्य परितः सु ी यतात्मा।
तत्कर्म किंचिदनुसर्तुमथं यतेत
य सौ नयनगोचरतां न याति॥७॥

अर्थ—इस प्रकार पहिले कहे अनुसार संसारके यौवन शरीर आदि समस्त पदार्थोंको चारों ओरसे यमराज रूपी प्रलयकालकी अग्निमें पडते हुए देखकर हेय और उपादेयका विवेक रखनेवाले प्रमादरहित पुरुषोंको कोई भी अनिर्वचनीय (जो वचनसे न कहा जा सके अथवा जिसे योगी ही जान सकें) ऐसे काम करनेका प्रयत्न करना चाहिये कि जिसके करनेसे यह यमराज फिर कभी भी दिखाई न दे।

भावार्थ—पहिले दिखला चुके हैं कि संसारके समस्त पदार्थ अनित्य हैं नित्य वा सदा रहनेवाला कोई भी पदार्थ

नहीं है। यहा ममझकर बुद्धिमानोंको मोक्ष प्राप्त करनेका करना चाहिये जिससे कि अनित्य पदार्थोंके नाश होनेपर भी इसे कभी किसी प्रकारका दुःख प्राप्त न हो।

भावार्थ—पहिले दिखला चुके हैं कि संसारके समस्त पदार्थ अनित्य हैं नित्य व सदा रहनेवाला कोई भी पदार्थ नहीं है यही समझकर बुद्धिमानोंको मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे कि अनित्य पदार्थोंके नाश होने पर भी इसे कभी किसी प्रकारका दुःख प्राप्त न हो ॥ ७ ॥

इति अनित्यानुप्रेक्षा।

दत्तोदयेर्थनिचये हृदये स्वकार्ये
सर्वः समाहितमतिः पुरतः समास्ते।
जाते त्वपायसमयेऽम्बुपतौ पतत्रेः
पोतादिव द्रुतवतः शरणं न तेऽस्ति ॥८॥

अर्थ—हे जीव! देख जिस समय तेरे बहुतसे धनका उदय होता है—पुण्यके उदयसे बहुतसा धन होता है और अन्य जीवोंके हृदयमें उस धनसे कुछ काम लेनेकी इच्छा होती है उस समय संसारके सब प्राणी तेरे सामने सेवकके समान सावधान होकर बैठते हैं। अर्थात् सब तेरी सेवा करते हैं परन्तु जब मृत्युका समय आ उपस्थित होता है तब कोई भी प्राणी तेरी रक्षा नहीं कर सकता। जिस प्रकार

कि समुद्रमें वेगसे जाते हुए जहाजसे छूटे हुए पक्षीकी कोई रक्षा नहीं कर सकता।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी वेगसे जाते हुए जहाजसे कोई पक्षी उड जाय और जहाजके आगे निकल जाने पर वह छूट जाय तो उसके लिये फिर कोई शरण नहीं है उडते उडते थककर अन्तमें उसे वहीं उसी समुद्रमें डूबकर मरना पडता है उसी प्रकार मृत्युके आजाने पर इस जीवको भी मरना ही पडता है उस समय कोई भी इसकी रक्षा नहीं कर सकता।

बन्धुव्रजैः सुभटकोटिभिराप्तवर्गै-
र्मन्त्रास्त्रतंत्रविधिभिः परिरक्ष्यमाणः।
जंतुर्बलादधिबलोऽपि कृतांतदूतै-
रानीयते यमवशाय वराक एकः॥ ९॥

अर्थ—चाहे अनेक कुटुम्बी लोग इसकी रक्षा करते हों, चाहे सहस्रभट लक्षभट कोटीभट आदि करोडों योद्धा इसकी रक्षा करते हों, चाहे पिता, मता, मन्त्री, पुरोहित, गुरु, उपाध्याय आदि बडे पुरुष इनकी रक्षा करते हों, और चाहे मन्त्र यन्त्र आदिकी विधिसे, अस्त्रोंसे तलवार आदि ोंसे और घेर कर खडी हुई चारों प्रकारकी सेनासे इसकी रक्षा की जाती हो तथा चाहे यह जीव सब सेनासे भी अधिक

पराक्रमी हो तथापि यमराजके दूत इस असहाय-अकेले क्षुद्र जीवको यमराजके आधीन करनेकेलिये ले ही जाते हैं।

भावार्थ-यह जीव चाहे जितना बलवान हो और चाहे जितनी तरहसे इसकी रक्षा की जाती हो तथापि इसे यमराज के आधीन होना ही पडता है—मरना ही पडता है उस समय कोई भी इसकी रक्षा नहीं कर सकता।

संसीदतस्तव न जातु समस्ति शास्ता
त्वत्तः परः परमवाप्तसमग्रबोधेः।
तस्यां स्थिते त्वयि यतो दुरितोपताप।
सेनेयमेव सुविधे विधुराश्रया स्यात्॥१०॥

अर्थ-हे सम्यक् चरित्रको धारण करनेवाले आत्मा! तू जो इस संसारमें दुखी हो रहा है सो उस दुःखसे बचानेके लिये तेरी रक्षा करनेवाला वास्तवमें अन्य कोई नहीं है पूर्ण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चरित्रको धारण करनेवाला तु ही अपना रक्षक है। क्योंकि जिससमय तु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयको धारण करेगा उससमय यह पाप और संतापोंकी सेना निराश्रय हो जायगी अर्थात् मर जायगी।

भावार्थ-यदि तुझे यमराजसे अपनी रक्षा करनी है-जन्म मरणके दुखोंसे बचना है तो तु रत्नत्रयको धारण कर। र को धारण कर ही तू अपने आप अपनी रक्षा कर

सकता है और सब तरहके पाप और संतापोंसे बच सकता है अन्यथा नहीं।

इति अशरणानुप्रेक्षा।

कर्मार्पितं क्रमगतिः पुरुषः शरीर-
मेकं त्यजत्यपरमाभजते भवाब्धौ।
शैलूषयोषिदिव संसृतरेनमेषा
नाना विडम्बयति चित्रकरैः प्रपंचैः॥ ११॥

अर्थ—संसाररूपी समुद्रमें यह जीव एक गतिको छोडकर दूसरी गति धारण करता है और दूसरीको छोड कर तीसरी गति धारण करता है इस प्रकार परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मोंके द्वारा प्राप्त हुए एक शरीरको छोडता है, दूसरा शरीर धारण करता है और फिर दूसरेको छोडकर तीसरा धारण करता है इस प्रकार यह जीव इस संसाररूपी समुद्रमें सदा परिभ्रमण किया करता है। यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला संसार, नटीके समान है जो समस्त लोगोंको चिंता और आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले अनेक भेषोंसे इस आत्माको विडंबित किया करता है।

भावार्थ—यह जीव इस संसाररूपी समुद्रमें सदा परिभ्रमण किया करता है और अनेक गतियोंमें अनेक प्रकारके

शरीर धारण किया करता है जिस प्रकार नटी अपने अनेक रूप बनाकर लोगोंको हँसाती है उसी प्रकार यह आत्मा अपने अनेक रूप बनाकर अपनी विडंबना किया करता है ।

दैवाद्धनेष्वधिगतेषु पटुर्न कायः
कायें पटौ न पुनरायुरवाप्तवित्तं ।
इत्थं परस्परहतात्मभिरात्मधर्मै--
र्लोकं सुदुःखयति जन्मकरः प्रबन्धः ॥

अर्थ--कदाचित् शुभ कर्मके उदयसे धन प्राप्त हो जाय तो शरीर वा नीरोग नहीं रहता, कदाचित्-शुभ कर्मके उदयसे शरीर नीरोग मिलजाय तो धनसे परिपूर्ण आयुकी प्राप्ति नहीं होती । इस प्रकार परस्पर एक दूसरेके स्वभावको नाश करनेवाले अपने अपने स्वभावोंसे यह जन्म मरण उत्पन्न करनेवाला प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेशरूप चारों का कर्मोंका बंध संसारी जीवोंको अत्यन्त दुःख दिया करता है ।

भावार्थ--संसारी जीवोंको दुःख देनेवाला कर्मोंका बंध ही है, उसका स्वभाव ही दुःख देना है इसलिये वह अपने स्वभावोंसे सदा जीवोंको दुःख दिया करता है । पर उसका स्वभाव सदा एकसा नहीं रहता यदि किसी एक

कर्मका ऐसा उदय होता है जिससे उस शुभ कर्मका उदय भी वेकार हो जाता है जैसे शुभ कर्मके उदयसे धन तो मिल गया परन्तु अशुभ कर्मके उदयसे शरीर नीरोग नहीं रहनेके कारण उस धनसे सुख नहीं भाग सकता। यदि अन्य शुभ कर्मोंके उदयसे शरीर नीरोग होजाय तो इतने में आयु समाप्त हो जाती है या धन नष्ट हो जाता है अभिप्राय यह है कि किसी शुभ कर्मका उदय होते हुए भी अन्य अशुभ कर्मोंका उदय उसे वेकार बना देता है और इस प्रकार वह जीवोंको सदा दुःखी ही बनाये रखता है इसलिए संसारमें कोई भी जीव सुखी नहीं है सब दुःखी ही दुःखी हैं।

आस्तां भवान्तरविधौ सुविपर्ययोय-
मत्रैव जन्मनि नृणामधरोच्चभावः।
अल्पः पृथुः पृथुरपि क्षणतोऽल्प एव
स्वामी भवत्यनुचरः स च तत्पदार्हः॥

अर्थ—यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला विपर्यय दूसरा जन्म धारण करनेके कारण होता है यह बात तो अलग ही रहे ऐसा होने में कोई आश्चर्यकी बात नहीं है परन्तु मनुष्योंके ऊंच नीच भाव इसी जन्ममें वदल जाते हैं। जो दरिद्र है कल वही धनी हो जाता है। जो धनी है वह क्षण

हो जाता है और आज जो सेवक है वह दूसरे ही दिन स्वामी बन जाता है।

भावार्थ—यह ऊपर लिखो उलट पलट इसी जन्ममें प्रत्यक्ष दिखाई देती है फि. भला जन्मान्तरमें ऐसी उलट पलट होनेमें तो कोई आश्चर्य ही नहीं है।

वैचित्र्यमित्थमनुभूय भवाम्बुराशे—
रातंकबाडवविडम्बितजन्तुवारेः।
को नाम जन्मविषपादपपुष्पकल्पैः
स्वं मोहयेन्मृगदृशां कृतधीः कटाक्षैः॥ १४॥

अर्थ—शीघ्र ही प्राणोंको हरण करनेवाली व्याधियोंको आतंक कहते हैं इस संसारमें ऐसी अनेक व्याधियां भरी हुई हैं उन व्याधिरूपी बडवानल अग्निके द्वारा इस असार समुद्र में भरा हुआ प्राणियोंका समूहरूपी जल वार वार कदर्थित किया जाता है अर्थात् उन व्याधियोंके द्वारा ये संसारके प्राणी वार वार दुःखी किये जाते हैं ऐसे इस संसाररूपी समुद्रमें ऊपर लिखे अनुसार आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अनेक प्रकारकी दशाओंका अनुभव करता हुआ ऐसा कौन विवेकी पुरुष है जो संसाररूपी विषवृक्षोंके पुष्पोंके समान स्त्रियोंके कटाक्षोंसे मोहित होजाय?

भावार्थ—यह संसार विष वृक्षके समान है क्योंकि

है जिसमें प्रकार

संसार भी प्राणीमात्रको दुःख देनेवाला है। तथा हिरणके नेत्रोंके समान सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियोंके कटाक्ष उन विषवृक्षोंके फूलोंके समान हैं क्योंकि जिस प्रकार उन विषवृक्षके फूलोंको सूंघकर मनुष्य मोहित वा बेहोश होजाता है उसी प्रकार इन स्त्रियोंके कटाक्षोंसे भी यह मनुष्य मोहित होजाता है उस समय यह अपने आपको सर्वथा भूल जाता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि जिन्हें हेय उपादेयका ज्ञान है जो समझते हैं कि हमारे लिये यह हित है यह अहित है तथा जो बार बार सदा दुःख देनेवाले इस संसारका प समझते हैं और इस संसारमें होनेवाली आत्माकी अनेक दुःखमयी अवस्थाओंका अनुभव करते हैं उन्हें स्त्रियोंके विषमय कटाक्षोंसे कभी मोहित नहीं होना चाहिये। उन्हें तो इस संसारसे अलग रहकर—इस संसारको छोड़कर अपने आत्माके निज स्वभावका चिंतवन करना चाहिये।

इति संसारानुप्रेक्षा।

—:०:—

एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम्।
अन्यो न जातु सुखदुः विधौ सहायः

अर्थ—हे जीव! तूने जो अपने आप कर्म किये हैं उनका सुख दुःखरूपी फल भोगनेके लिये तू अकेला ही अपने आप जन्म लेता है और अकेला ही अपने आप मरण करता है। तेरे इस सुख दुःखमें अन्य कोई सहायक नहीं होता इन कुटुंबियोंमेंसे भी तेरा कोई सहायी नहीं होता ये तो केवल अपनी आजीविकाकेलिये ही अपना जीवन बितानेकेलिये ही सब शत्रु मिलकर इकट्ठे हुये हैं। भावार्थ—

कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते। स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते। अर्थात्—यह जीव अपने आप अच्छे बुरे कर्म करता है अपने आप उनका सुख दुःख फल भोगता है अपने आप संसारमें परिभ्रमण करता है और अपने आप उससे छूटकर होता है। इस प्रकार यह जीव अपने आप कर्म करता है और अपने आप उनका फल भोगता है उनके फल भोगनेके लिये ही यह अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। इसमें कोई दूसरा सहायक नहीं होता। लोग कुटंबियोंको सहायक समझते हैं परन्तु वास्तवमें वे सहायक नहीं हैं वे तो इसके शत्रु हैं जो केवल अपना पेट भरनेके लिये इससे अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न कराते हैं यदि कुटम्ब न हो तो यह किसकेलिये पाप करे। भले ही यह पाप दूसरोंके लिये करे परन्तु उसका फल उसे अकेले ही भोगना पड़ता है क्योंकि वह पाप उसने अकेले ही तो किया है।

...

व : परिग्रहविधिस्तव दूरमास्तां
देहोयमेति न समं सहसंभवोऽपि।
किं ताम्यसि त्वमनिशं क्षणदृष्टनष्टै-
र्दारात्मजद्रविणमन्दिरमोहपाशैः॥१६॥

अर्थ—हे जीव! स्त्री पुत्र मित्र आदि तेरे बाहरके पदार्थ तो दूर ही रहो यह तेरे साथ उत्पन्न होनेवाला शरीर भी तेरे साथ नहीं जाता। इसलिए हे जीव! क्षणभरमें दिखाई देनेवाले और दूसरे ही क्षणमें नष्ट होनेवाले इन स्त्री, पुत्र, धन, घर आदिके मोहरूपी बन्धनोंसे तू अपने आत्माको निरन्तर क्यों बांधता रहता है। भावार्थ—स्त्री पुत्र धन घर आदि बाह्य पदार्थोंमें मोह वा ममत्व करनेसे केवल कर्मोंका बन्ध होता है क्योंकि इनमेंसे कोई साथ तो जाता नहीं यहां तक कि साथ उत्पन्न होनेवाला शरीर भी साथ नहीं जाता इस जीवने जैसा पुण्य पाप किया है उसके अनुसार इसे अकेला ही जाना पड़ता है अकेला ही सुख दुःख भोगना पडता है इसलिये बाह्य पदार्थोंसे ममत्व करनेमें सिवाय हानि के कोई किसी प्रकारका लाभ नहीं है। अतएव जीवोंको चाहिए कि धीरे २ अभ्यास करते हुए बाहरके सब पदार्थोंका ममत्व छोड दें, केवल अपने आत्मासे ममत्व करे जिससे अपना कल्याण हो।

संशोच्य शोकानिव ˋ दिवसं तमेक-
मन्येद्युरादरपरः जनस्तवार्थे।

कायोऽपि भस्म भवति प्रज्वलिताच्चिताग्नेः
संसारयन्त्रघटिकाघटने त्वमेकः ॥ १७ ॥

अर्थ—हे जीव! तू विचार तो कर कि जिस दिन तू मरता है केवल उसी दिन शोकसे विवश होकर तेरे कुटम्बके लोग शोक करते हैं दूसरे दिन तो वे तेरा धन बांटने में लग जाते हैं और यह तेरा शरीर जलती हुई चिताकी अग्निमें भस्म हो जाता है इसप्रकार सब लोग तुझसे अलग हो जाते हैं इस संसाररूपी अरहटकी घडीको चलानेके लिए तुझे अकेला ही जुतना पडता है। भावार्थ—तेरे मरनेके पीछे कुटुंबी लोग जो शोक करते हैं वह तेरे लिए नहीं करते, किंतु तेरे मरनेसे उनका स्वार्थ नष्ट होता है इसलिये शोक करते हैं यदि वह शोक तेरे लिये होता तो कुछ देरतक तो ठहरता परन्तु वह तो दूसरे दिन या उसी दिन तेरा धन बांटनेमें परिणत हो जाता है। इसलिये ऐसे कुटुम्बके लिये जो मोह करना व्यर्थ ही है। अब रहा शरीर सो भी अग्निमें जल जाता है इसलिये इसके लिये भी मोह करना व्यर्थ है। इनके मोह करनेसे ही तुझे इस संसारमें परिभ्रमण करना पडता है। और अकेले ही अनेक प्रकारके दुःख भोगने पडते हैं। इसलिये हे जीव! तू इन सबसे मोह छोडकर आत्मामें लीन हो जिससे तेरा संसारका दुःख दूर हो और

एष स्वयं तमचलैर्नैनु कर्मजालै-
लूतेव वेष्टयति नष्टमतिः स्वमेकः।
पुण्यात्पुनः प्रशमतंतुकृतावलम्ब-
स्तद्धाम धावति विधूत स्तबाधम् ॥१८॥

अर्थ—यह निर्बुद्धि विवेकरहित जीव मकडीके समान अकेला ही अपने आप अपने आत्माको वज्रलेप के समान कर्मोंके समूहोंसे बांध लेता है। तदनन्तर किसी समय पुण्य कर्मके उदयसे कर्मोंके उपशम होनेरूप तंतुओंका सहारा लेकर समस्त बाधाओंसे रहित ऐसे मोक्ष स्थानमें जा विराजमान होता है। भावार्थ—जिसप्रकार मकडी अपने आप अपनेको बांध लेती है उसीप्रकार हेयोपादेय बुद्धिसे रहित यह आत्मा भी अपने आप कर्मोंके समूहसे बन्ध जाता है और अनेक प्रकारके दुःख भोगता रहता है। कदाचित् पुण्य कर्मोंका उदय होनेसे कुछ कर्मोंका उपशम होता है जिससे इसका स्वभाव प्रगट होता है और निज स्वभाव प्रगट होनेसे हेयोपादेयका ज्ञान वा स्वपर विवेक प्रगट होता है। उसीसे यह जीव सब तरहके दुःखोंसे रहित ऐसे मोक्ष स्थानमें जा विराजमान होता है। इसलिये इस जीवको सदा पुण्य कर्म करते रहना चाहिये जिससे अशुभ कर्मोंका उपशम वा नाश हो, स्वपर विवेक प्रगट हो और पूर्ण सुखमय मोक्ष प्राप्त हो।

देहात्मकोऽहमिति चेतसि माकृथास्त्वं
त्वत्तो यतोऽस्य वपुषः परमो विवेकः ।
त्वं धर्मशर्मवसतिः परितोऽवसायः
कायः पुनर्जडतया गतधीनिकायः ॥१९॥

अर्थ—हे जीव ! हे आत्मा ! तू अपने हृदयमें ऐसा संकल्प मत कर कि मैं देहरूप हूं शरीरमय हूं क्योंकि तुझ में और इस शरीरमें तो बडा भारी अन्तर है यह शरीर तो तुझसे सर्वथा अलग है और इसका भी कारण यह है कि तू अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, और अनन्त सुख रूप चैतन्य धर्मोंका तथा परमानन्दरूप आत्मसुखका निवास स्थान है और सर्वांग चेतना स्वभाव है परन्तु यह शरीर जड होनेके कारण ज्ञान दर्शनसे रहित अचेतन है। भावार्थ हे आत्मन्! तू चैतन्य स्वरूप है और शरीर जड है अचेतन है इसलिये तू शरीरसे सर्वथा भिन्न है यही भावना सर्वदा करता रह।

आसीदति त्वयि सति प्रतनोति कायः
क्वांते तिरोभवति भूपवनादिरूपैः ।
भूतात्मकस्य मृतवन्न सुखादिभाव-
स्तस्मात्कृती करणतः पृथगेव जीवः ॥२०॥

अर्थ—हे आत्मन ! तेरे रहते हुए ही यह शरीर स्थिर

रहता है और तेरे रहते हुये ही बढता है। जब तू इसमेंसे निकल जाता है तो फिर उसी समय यह शरीर पृथ्वी जल अग्नि वायु रूपमें परिणत हो जाता है। यह शरीर पृथ्वी जल अग्नि और वायुरूप है इसकारण मरे हुए शरीरके समान इसे सुख दुख आदिका अनुभव कभी नहीं होता है यह अनुभव केवल आत्माको ही होता है इसलिये मानना चाहिये कि यह पुण्यवान आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न ही है। भावार्थ-जिसप्रकार मृतक शरीरको सुख दुखका अनुभव नहीं होता क्योंकि वह जड है उसमेंसे आत्मा निकल गया है इससे सिद्ध होता है कि सुख दुखका अनुभव केवल आत्माको ही होता है शरीरको नहीं। यदि शरीरको सुख दुःख होता है तो मृतक शरीरको भी होना चाहिये परन्तु मृतक शरीर को होता नहीं इसलिये वह अनुभव केवल आत्माको ही हो होता है। इसप्रकार सिद्ध होता है कि आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है। आत्मा चेतनरूप है ज्ञान दर्शनमय है और शरीर जड है। इससे भी आत्माकी शरीरसे विल्कुल भिन्नता सिद्ध होती है।

सानन्दमव्यय ादिमनन्त के-
मु ोतिनं निरुपलेपगुणं प्रकृत्या।
कृत्वा जडाश्रयमिमं पुरुषं समृद्धाः
सन्तापयन्ति र

अर्थ—यह स्वानुभूतिसे प्रत्यक्ष होनेवाला आत्मा अनन्त सुखसे विराजमान है इसकी कभी मृत्यु वा नाश नहीं होता, यह आदिरहित है अनादिसे ज्योंका त्यों चला आ रहा है, केवलज्ञान केवल दर्शनके द्वारा यह अनन्त पदार्थोंके स्वरूपका ग्रहण करता इसलिये यह अनन्त शक्तिवाला है, लोक अलोक दोनोंके स्वरूपको प्रकाशित करने वाला है और निश्चयनयसे कर्ममल कलंकसे रहित है ऐसे इस आत्मा को पारेके समान शरीर आश्रय (पारेके पक्षमें, गन्धक वा सीसाका आश्रय लेकर) बनाकर यह जलती हुई पापरूप वा कर्मरूप अग्नि सदा सन्तप्त करती रहती है। भावार्थ—जिसप्रकार अग्नि पारेको गन्धक वा सीसामें मिलाकर संतप्त करती है यह अकेले पारेको नहीं जला सकती उसीप्रकार यह कर्मरूपी अग्नि शरीरसहित आत्माको जलाती है वह अशरीर आत्माको कभी नहीं जला सकती इससे सिद्ध होता है कि यह आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है और इस आत्मा को दुःख देनेवाला यह शरीर ही है। यदि शरीर न हो तो यह आत्मा कभी दुखी नहीं हो सकता इसलिये इस आत्माको सबसे भिन्न समझकर सबसे ममत्व छोड देना चाहिये।

कर्मास्रवानुभवनात्पुरुषः परोऽपि
प्राप्नोति पातमशुभासु भवावनीषु।
तस्मात्तयोः परमभेदविदो विदग्धाः
...

श्रेयस्तदा दधतु यत्र न जन्मयोगः ॥२२॥

अर्थ—यद्यपि यह आत्मा सबसे उत्तम है तथापि कर्म-रूपी मद्यके सेवन करनेसे चांडालादिक अत्यंत अपवित्र और पापरूप अशुभ योनियोंमें गिर पढता है। इसलिये शरीर और आत्मामें अत्यन्त भेद समझनेवाले आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न माननेवाले और हेय उपादेयका ज्ञान रखने वाले चतुर पुरुषोंको अपनी आत्माका ऐसा कल्याण करना चाहिये कि जिससे फिर कभी भी जन्म न धारण करना पडे। भावार्थ—जिसप्रकार उत्तम पुरुष भी मद्यके सेवन करनेसे अपवित्र और अशुभ स्थानोंमें गिरते पडते रहते हैं उसी प्रकार यह आत्मा सर्वोत्तम होनेपर भी केवल कर्मोंके संबंधसे चाडाल वा नरक आदि पापरूप अशुभ योनियोंमें शरीर धारण करता रहता है। लिखा भी है—"कर्मकोद्रवरसेन हि मत्तः किंकिमेत्यशुभ धाम न जीवः" अर्थात् कर्मरूपी कोदोंके रससे उन्मत्त हुआ यह जीव कौन कौनसे अशुभ स्थानोंमें उत्पन्न नहीं होता है, भावार्थ—उसे सब ही अशुभ स्थानोंमें उत्पन्न होना पडता है। इसलिये आत्माको शरीर और कर्म सबसे भिन्न समझना चाहिये। लिखा भी है "क्षीर-नीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः। भेदो यदि ततोऽन्यत्र कल त्रादिषु का कथा" अर्थात् यद्यपि यह आत्मा और शरीर दूध पानीके समान मिलकर एकरूप हो रहा है तथापि वह शरीर से सर्वथा भिन्न है जब वह अपने साथ मिलकर ए

वाले शरीरसे ही भिन्न है तब फिर वह आत्मा सर्वथा जुदे दिखाई देनेवाले स्त्री पुत्र आदिकसे तो भिन्न है ही इसमें कोई संदेह नहीं है। यही सम सबसे ममत्व छोड तपश्चरण करना चाहिये जिससे कि सब कर्म नष्ट होकर आत्मा मुक्त हो जाय और फिर इसे जन्म मरणके दुःख कभी न भोगने पडें ॥ २२ ॥

इति पृथक्त्वानुप्रेक्षा ।

आधीयते यदिह वस्तु गुणाय कांतं
काये तदेव मुहुरेत्यपवित्रभावम् ।
छायाप्रतारितमतिर्मलरंध्रबन्धं
किं जीव ! लालयसि भंगुरमेतदंगम् ॥ २३ ॥

अर्थ—हे जीव ! इस शरीरको सुगंधित वा सुशोभित बनानेके लिये इसपर कपूर चंदन केशर आदि जो जो मनोहर पदार्थ लगाये जाते हैं वे पदार्थ उसीसमय अत्यंत अपवित्र हो जाते हैं यह शरीर इतना अपवित्र है फिर भी तेरी बुद्धि हलके गोरे वा श्याम चमडेको देखकर ठगाईमें आ जाती है इसीलिये तो तू अपने आप अवश्य नष्ट होने वाले और मल मूत्र आदि अत्यन्त अपवित्र पदार्थोंके निकलनेकी मोरियोंका समुदायरूप इस शरीरको पालन पोषण है पर इसका पालन पोषण करना सरासर तेरी

भूल है । भावार्थ—यह शरीर इतना अपवित्र है कि चन्दन केशर आदि अत्यंत पवित्र पदार्थ भी इसके सम्बंधसे अपवित्र अत्यंत अपवित्र हो जाते हैं इसके सिवाय यह मल मूत्र आदिकी मोरियोंका समुदाय है इसके नाक कान मुंह आदि उत्तम माने जानेवाले स्थानोंसे भी कफ आदि अपवित्र पदार्थ ही निकलते हैं यहा तककि इसके रोम रोममेंसे अपवित्र पसीना निकलता है और फिर भी यह ठहरता नहीं अपने आप नष्ट हो जाता है फिर भी यह जीव इससे ममत्व करता है इसका पालन पोषण करता है यह वडे आश्चर्यकी वात है ॥ २३ ॥

योषिद्भिराहृतकरं कृतमंडनश्री-
यः कामचामररुचिस्तव केशपाशः ।
सोऽयं त्वयि श्रवणगोचरतां प्रयाते
प्रेतावनीषु वनवायसवासगोऽभूत् ॥२४॥

अर्थ-हे जीव ! देख तो यह जो तेरा केशोंका समूह काम देवके चमरोंकी शोभा धारण करता है और कोमल करकमलों-वाली सुंदर स्त्रियोंने बडे आदरके साथ सुगंधित तेल लगा-कर तथा चम्पा चमेली बेला आदिके फूलोंसे सजाकर जिसकी शोभा वढाई है वही केशोंका समूह तेरे मर जानेपर श्मशानमें पडा हुआ काले कौओंका भोजन वन जाता है । भावार्थ—इस शरीरकी यही दशा है, जवतक इससे

है तब तक इसके प्रत्येक अंगकी शोभा बढाई जाती है परन्तु मरनेके बाद ही यह सडने लगता है फिर यह क्षण भर भी पहिलेकी अवस्थामें नहीं ठहर सकता। आज जो सुन्दर जान पडता है कल वही मरनेपर भयानक दिखाई देता है आज जिसे वस्त्राभूषणोंसे सजाते हैं और देख देख प्रसन्न होते हैं कल मरनेपर वही जला दिया जाता है गाड दिया जाता है सड जाता है या उसे चील कौए खा जाते हैं, शरीरका यह स्वभाव ही है वह कभी छूट नहीं सकता ॥ २४ ॥

अन्तर्बहिर्यदि भवेद्वपुषः शरीरं
दैवात्तदानुभवनं ननु दूरमास्ताम्।
कौतूहलादपि यदीक्षितुमुत्सहेत
कुर्यात्तदाभिरतिमत्र भवाङ्गशरीरे ॥२५॥

अर्थ— हे जीव! देख तो (जिस शरीर पर तू रीझता है या उसका पालन पोषण करता है) उस शरीर का भीतरी भाग यदि दैवयोगसे भी अकस्मात् बाहर हो जाय तो फिर उसका अनुभव करना, उसपर रीझना तो बहुत दूर रहा यदि उससमय उसपर कौतुहलसे भी दृष्टि पड जाय तो उसीसमय उसी शरीरके सामने तेरा मरण हो जाय। भावार्थ—इस शरीरके भीतर अत्यन्त घृणित पदार्थ भरे हुए हैं ये सब बाहरके चमडेसे ढके हुए हैं यदि शरीरका ... दिया जाय चमडा भीतर कर दिया जाय तो

फिर उसकी ओर कोई आंख उठाकर भी नहीं देख सकता शरीर ऐसाही अपवित्र और घृणितस्वभाव है ॥ २५ ॥

तस्मान्निसर्गमलिनादपि लब्धतत्त्वाः
कीनाशकेलिमनवाप्तधियोऽचिराय ।
कायादतः किमपि तत्फलमर्जयन्तु
यस्मादनन्तसुखसस्यविभूतिरेषा ॥ २६ ॥

अर्थ—इसलिये हेय उपादेयका विवेक रखनेवाले पुरुषोंको मृत्यु होनेके पहिले पहिले बहुत शीघ्र इस स्वभाव से ही अपवित्र और घृणित शरीरसे भी कोई ऐसा अनिर्वचनीय लाभ उठालेना चाहिये जिससे कि अनन्त सुखरूपी ऐश्वर्य प्राप्त हो जाय। भावार्थ—यह शरीर स्वभावसे ही अपवित्र और घृणित तो है ही तिसपर भी यह अपने आप अवश्य ही नष्ट होजाता है इसलिये बुद्धिमानोंको चाहिये कि ऐसे इस शरीरको पाकर तपश्चरण करे जिससे मोक्षकी प्राप्ति हो और फिर कभी भी ऐसा अपवित्र और घृणित शरीर धारण न करना पड़े ॥ २६ ॥

इति अशुचित्वानुप्रेक्षा ।

———:o:———

अन्तःकषायकलुषोऽशुभयोगसंगा—
त्कर्माण्युपार्जयसि बन्धनिबन्धनानि ।

रज्जूः करेणुवशगः करटी यथैता-
स्त्वं जीव मुंच तादिमानि दुरीहितानि ॥

अर्थ—हे जीव ! देख ! जिस प्रकार हाथी हथिनीके साथ लंपटता धारण कर राजा महाराजाओंकी वडी वडी जंजीरों से जकडा जाता है उसीप्रकार क्रोध मान माया आदि लोभ कषायोंसे अंतरंगमें मलिन होकर तू भी मन वचन कायके अशुभ योगोंके संबंधसे प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेशरूप बंधके कारण ऐसे कर्मोंको हर समय उत्पन्न करता रहता है और उनसे बंधता रहता है इसलिये हे जीव ! अब तू इन पाप रूप कर्मोंको छोड । भावार्थ—कषाय और योगोंके द्वारा इस जीवके प्रत्येक समयमें कर्म आते रहते हैं जो कि अत्यन्त दुखके कारण हैं इसलिये आते हुए कर्मोंको रोकना वा मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय योग आदि आस्रवके कारणोंका हटाना ही इस जीवको कल्याणकारी है । इनके हटाने से ही यह जीव अत्यन्त सुख प्राप्त कर सकता है ।

संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीयं
चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन् ।
तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचनापि
पक्षे परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य ॥ २८ ॥

"" यों करूंगा यो करूंगा इस

प्रकार करनेसे मुझे यह मिल जायगा वह मिल जायगा " इसप्रकारके संकल्परूपी कल्पवृक्षोंके आश्रयसे तेरा हृदय इस मनोरथरूपी महासागरमें डूब रहा है । उसमें गोते खा रहा है तू चाहता है कि जो मैं संकल्प करता हूं वह सब मुझे मिल जायगा परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो उस संकल्पके अनुसार धन धान्य स्त्री पुत्र आदि कुछ भी नहीं होता है । हां ! उस संकल्पसे पापोंका आश्रव अवश्य होता है ।

भावार्थ—इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति तो पुण्य कर्मोंके उदयके आधीन है । वह संकल्प करने मात्रसे कभी नहीं मिल सकती । ऐसे ऐसे संकल्प करनेसे तो केवल पाप कर्मोंका आश्रव होता है जो कि अंत में महादुख देता है इसलिये ऐसे संकल्प करना सर्वथा छोड देना चाहिये । लिखा भी है—

दट्ठूण परकलत्तं रागं मा वहसि हियमज्झम्मि ।
पावेण पाव लिप्पसि पाव मावहसि त्वं च सुद्धो हि ॥ १ ॥

अर्थात्—परस्त्रीको देखकर तू अपने हृदयमें राग मत कर क्योंकि पाप करनेसे तू पापोंसे लिप्त हो जायगा परन्तु निश्चय नयसे तू शुद्ध है इसलिये तू पाप मत कर ।

सैश्वर्यं विभूतिषु ोषि श्रयाणां
च भवत्तव निजार्त्तिषु मोघवाञ्छम् ।
पापागमाय पर भवेद्विमूढ
क ह्नि तानि । २

अर्थ— हे जीव ! अपनी इच्छानुसार स्वर्गादिके सुख देनेवाले ऐश्वर्योंमें ईर्ष्या रखनेवाला और सदा फलकी इच्छा रखनेवाला यह तेरा हृदय अनेक पदार्थोंकी आकांक्षाओंमें लगा रहता है परन्तु हृदयके इसप्रकार आकांक्षाओंमें लगे रहनेसे केवल पापोंका ही आगमन होता है । अरे मूर्ख ! विचार तो कर कि पुण्यहीन पुरुषोंके केवल इच्छा करने मात्रसे सुख किस प्रकार मिल सकता है ? भावार्थ–सुखकी प्राप्ति पुण्य कर्मके उदयसे होती है, इच्छा करनेसे नहीं । यदि पुण्य कर्मका उदय है तो विना इच्छाओंके भी सुख की सामग्री मिल जाती है और यदि पुण्य कर्मका उदय नहीं है तो वह लाख इच्छाएं करनेपर भी प्राप्त नहीं होती किंतु विना पुण्योदयके केवल इच्छा करनेमात्रसे पाप कर्मोंका आश्रव ही होता है । इसलिये इच्छायें करना दुखका कारण है । ऐसी इच्छाओंको रोकना ही आत्माका कल्याण करनेवाला है ॥ २९ ॥

दौर्विध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तभुक्ते-
श्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितोत्तरंगम् ।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे
कौतस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः ॥३०॥

अर्थ–हे जीव ! निर्धनताके कारण तेरा हृदय भस्म हो रहा है और इसीलिये उसमें अनेक उत्कट मनोरथ रूपी

लहरें सदा लहरें मारा करती हैं और वह संकल्पपूर्वक भोगोपभोगोंके ग्रहण करनेकी सदा इच्छा किया करता है परन्तु जिसप्रकार वह भोगोपभोगोंकी इच्छामें लगा रहता है उसी प्रकार यदि वह परमात्मारूपी ज्ञान ज्योतिके स्थानमें लगे रहनेकी चेष्टा करे तो फिर तेरा जन्म किसी प्रकार भी व्यर्थ नहीं हो सकता। फिर तू अपना जन्म सर्वथा सफल ही समझ। भावार्थ—निर्धनताके कारण अनेक इच्छाएं उत्पन्न होती रहती हैं और उन इच्छाओंसे अन्य अनेक पाप कर्मोंका आस्रव होता रहता है इसप्रकार यह जीव जिस सुखकी सामग्रीको चाहता है वह उससे और दूर हटती जाती है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि भाई! इच्छा करनेसे कोई लाभ नहीं। यदि तुझे अपना हृदय लगाना ही है तो इच्छाओंमें वा भोगोपभोगकी सामग्रीमें मत लगा, तू उसे परमात्मामें लगा। अपना हृदय परमात्मामें लगानेसे पुण्य कर्मकी प्राप्ति होगी, पुण्यकर्मके उदयसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होगी और रत्नत्रयसे अनन्त सुख प्राप्त होगा। इसप्रकार करनेसे यह तेरा जन्म सर्वथा सफल समझा जायगा।

इति आस्रवानुप्रेक्षा

——:०:——

आगच्छतोऽभिनवकार्मणरेणुराशे-
र्जीवः करोति य वितन्द्रः।

सत्तत्त्वचामरधरैः प्रणिधानहस्तैः
संतो विदुस्तमिह संवरमात्मनीनम् ॥३१॥

अर्थ—जिसप्रकार अपने घरमें कोई आता है और उसे हम रोकना चाहते हैं तो उसे हाथ हिलाकर रोक देते हैं उसीप्रकार नवीन कर्म बंधनेकेलिये जो प्रति समय पुद्गल परमाणुओंका समूह आता है उसे यह आत्मा प्रमादरहित सावधान होकर आत्मतत्त्वरूपी चमरको धारण करनेवाले शुभ ध्यान रूपी हाथोंसे जो रोक देता है, नहीं आने देता है उसे सज्जन लोग संवर कहते हैं। इस संसारमें यह संवर ही आत्माका हित करनेवाला है। भावार्थ—आते हुए कर्मोंको रोकना ही संवर है। इस जीवके प्रति समयमें कर्म आते रहते हैं जोकि अनेक प्रकारके दुःख दिया करते हैं वे कर्म मिथ्यात्व अविरति आदि कारणोंसे ही आते हैं और गुप्ति समिति आदि शुभ ध्यानसे रुक जाते हैं। जब यह आत्मा गुप्ति समिति आदि शुभ ध्यानसे उन कर्मोंको रोक देता है, नहीं आने देता तब वह उनके दुःखरूप फलोंसे भी बच जाता है इस प्रकार भी संवरसे आत्माका हित होता है। तथा नवीन कर्म जब आनेसे रुक जायगे और पहिले के कर्म प्रतिसमय निर्जरित होते रहेंगे तो किसी न किसी दिन अवश्य सब कर्म नष्ट हो जायगे और फिर यह आत्मा अनन्त सुखी होकर मोक्षमें जा विराजमान होगा इसप्रकार से भी संवर ही आत्माका हितकारी है।

य ां विचिन्तयाति संचरते विचारै-
आर्वां चिनोति परिमुंचाति चंडभावं।
चेतो निकुंचाति समंचाति वृत्तमुच्चैः
स क्षेत्रनाथ विरुणद्धि कृती रजांसि ॥३२॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जो आत्मा अपने आत्माका ध्यान करता है, जो अपने भेद के द्वारा अपने ही आत्मामें विहार करता है, जो आत्मा अपनी ज्ञानस्वरूप बुद्धिको ता है, जो आत्मा क्रोधरूप उग्रभावोंका कर देता है, जो आत्मा विषय कषायोंमें जाते हुये ो रोक लेता है और जो आत्मा उत्तम चारित्र धारण करता है वही पुण्यवान आत्मा आते हुए पाप कर्मोंको रोक देता है, भावार्थ—आत्माका ध्यान करना कषायोंका त्याग करना, स्वात्मानुभूतिको प्रकाशित कर उसे करना और उत्तम चारित्र धारण करना ही संवरके कारण हैं। इन्हींसे आते हुए कर्म रुकते हैं।

नीरन्ध्रसंधिरवधीरितनीरपूरः
पोतः सरित्पति पैति यथान :।
जीव था क्षपितपूर्व : प्र :
क्षीणास्रवश्च परमं पदमाश्रयेत ॥ ३३ ॥

पानी आनेका कोई मार्ग नहीं है और जिसका पहिले आया हुआ पानी सब निकाल दिया गया है ऐसा जहाज बिना किसी विघ्नके समुद्रके पार हो जाता है उसीप्रकार संवर धारण करनेके कारण जिसके नवीन कर्म आते नहीं और पहिलेके कर्मोंका समूह सब जिसने नष्ट कर दिया है ऐसा यह आत्मा मोक्षरूप परम पदमें जा विराजमान होता है। भावार्थ—संवर ही मोक्षका कारण है क्योंकि संवर धारण करनेसे नवीन कर्म तो आवेंगे नहीं और पहिलेके विद्यमान कर्म प्रतिक्षण निर्जरित होनेसे नष्ट हो ही जायगे या तपश्चरणादिके द्वारा शीघ्र नष्ट कर दिये जांयगे इसप्रकार केवल संवर धारण करनेसे ही यह आत्मा शीघ्र मुक्त हो जायगा।

इति संवरानुप्रेक्षा ॥ ८ ॥

———:o:———

मध्याधरोर्ध्वरचनः पवनत्रयान्त-
स्तुल्यः स्थितेन जघन करेण पुंसा।
ए तिस निकेतनमेष लोक-
न्निकीर्णजठराऽग्रनिषण्णमोक्षः ॥३४॥

अर्थ—हे जीव! यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला लोक घनवात घनोदधिवात और तनुवात तीन प्रकारकी वायुओंसे घिरा हुआ है जिसप्रकार चारों ओरकी वायुके भीतर

है, हिल नहीं सकता उसीप्रकार साठ साठ हजार योजन मोटी ऊपर लिखी तीनों प्रकारकी वायु इस लोकके चारों ओर लोकाकाशमें ही निराधार विद्यमान हैं क्योंकि वायु आकाशमें निराधार रहती ही है उसी वायुके आधार पर यह लोक स्थिर है। इधर उधर कहीं भी हिल नहीं सकता ? क्योंकि वायु चारों ओर है उसी लोकके तीन भाग हैं मनुष्य-लोक वा तिर्यग्लोकको मध्य लोक कहते हैं, स्वर्ग लोकको ऊर्ध्व लोक कहते हैं और नीचेकी नरकोंकी सात पृथिवियों को अधोलोक कहते हैं इसकी अनादि कालकी ऐसी ही रचना है। जिसप्रकार कोई पुरुष कमरपर दोनों हाथ रख कर पैर फैलाकर खडा हो उस समय जैसा उसका आकार होता है ठीक वैसा ही आकार इस लोकका है। यह लोक एक महा स्कन्ध है, इसका सब मध्यभाग जीवोंसे भरा हुआ है अथवा इसका त्रस नाडीरूप मध्यभाग त्रस जीवोंसे भरा हुआ है और इसके ऊपरी भागपर पैंतालीस लाख योजन मोक्षस्थान विराजमान है। हे जीव ! ऐसा यह लोक तेरा निवा न है। यही तेरा घर है। भावार्थ—इसी लोकाकाशमें तू अनादि कालसे परिभ्रमण करता चला आया है और जब तक मोक्ष प्राप्त न होगी तबतक बराबर इसीमें परिभ्रमण करता रहेगा। इसलिये उस दुःखरूप परि- से बचनेके लिये शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय

कर्ता न तावदिह कोऽपि धियेच्छया वा
ऽन्यथा कटकृतावपि स प्रसंगः ।
कार्यं किमत्र सदनादिषु तक्षकाद्यै-
राहृत्य चेत्त्रिभुवनं पुरुषः करोति ॥३५॥

अर्थ— हे जीव ! देख ! इच्छा वा बुद्धिपूर्वक करनेवाला इस जगतका कोई कर्ता नहीं है। यदि कदाचित् बुद्धिपूर्वक इस जगतका कोई कर्ता होता तो इच्छा होते ही तृणादिकके रहते हुए चटाई अपने आप वन जानी चाहिये अथवा मकान आदिके वनवानेमें शिलावट राज आदिकी भी आवश्यकता नहीं होनी चाहिये क्योंकि जो कोई पुरुष सामग्री इकट्ठी कर तीनों लोकोंको वनाता है उसके लिये मकान आदि वनाना कौनसी वडी वात है ।

भावार्थ—इस जगतको इच्छापूर्वक किसीने नहीं वनाया है यदि किसीके इच्छा करनेमात्रसे ही जगत वन जाय तो इच्छा करनेमात्रसे हमारा द्वार वा घर वन जाना चाहिये जिसने इच्छा करनेमात्रसे जगतको वना डाला है उसके लिये द्वार वा मकान वनाना कौनसा कठिन काम है । परन्तु द्वार वा मकान अपने आप वनते नहीं इसलिये जगतका कर्ता मानना भी मिथ्या ही है । यह जगत अनादि अनंत है सदासे चला आया है और अनंत तक वना रहेगा । कोई भी पदार्थ विना पहिलेकी सामग्रीके नहीं वनता तथा

पहिलेकी सामग्री भी किसी दूसरी सामग्रीसे विगड़ कर बनी होगी इसप्रकार भी यह जगत् अनादि कालका ही सिद्ध होता है। इसलिये इसका कर्ता कोई नहीं है॥ ३५॥

त्वं कल्मषावृतमतिर्निरये तिरश्चि
पुण्योच्चितो दिवि द्वयकर्मयोगात्।
इत्थं निषीदसि जगत्त्रयमंदिरेऽस्मिन्
स्वैरं विधये तव लोक एषः॥ ३६॥

अर्थ—हे जीव! जब तेरी बुद्धि पाप कर्मोंसे घिरी रहती है अर्थात् पाप कर्मका अधिक उदय होता है तब तुझे नरक वा तिर्यच गतिमें रहना पडता है। जब तेरे पुण्य कर्मका उदय होता है तब तू सर्वार्थसिद्धि तक स्वर्गोंमें उत्पन्न होता है अथवा वहां निवास करता है और जब पाप पुण्य दोनों कर्मोंका उदय होता है तब तुझे मनुष्य गतिमें निवास करना पडता है। इसप्रकार तुझे इन तीनों लोकोंमें निवास करना पडता है। यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला लोक इसप्रकार तेरी इच्छानुसार तेरे परिभ्रमण करनेके ही काममें आता है। भावार्थ—बहुतसे लोग नरक स्वर्ग नहीं मानते। परन्तु उन्हे यह विचार करना चाहिये इस संसारमें पुण्य पाप तो को मानना पडता है क्योंकि अच्छे बुरे कर्मोंका फल ही पुण्य पाप है उस पुण्य पापकी चार अव-

पुण्यपापका मिलाप जिसमें पुण्यकी मात्रा कुछ अधिक हो और चौथा पापपुण्यका मिलाप जिसमें पापकी मात्रा अधिक हो। इन चारोंका फल भोगनेके लिये ही चार गतियां हैं, पुण्यका फल स्वर्गमें मिलता है, पापका फल नरकमें मिलता है, पुण्यपापका फल मनुष्य गतिमें भोगना पडता है और पापपुण्यका फल तिर्यंच गतिमें भोगना पडता है। इस श्लोकमें जो तिर्यंच गतिको पापका फल बतलाया है वह निगोदादिककी अपेक्षासे बतलाया है। इसप्रकार स्वर्ग नरक माने विना किसीका काम चल नहिं सकता। क्योंकि ऊपर लिखे अनुसार इस जीवको चारो गतियोंमें परिभ्रमण करना ही पडता है। यही इस श्लोकमें बतलाया है॥ ३६॥

अत्रास्ति जीव ! न च किंचिदभुक्तमुक्तं
स्थानं त्वया निखिलतः परिशीलनेन।
तत्केवलं विगलिताखिलकर्मजालं
स्पृष्टं कुतूहलधियापि न जातु धाम॥३७॥

अर्थ—हे जीव ! इस लोकमें ऐसा कोई स्थान नहीं है जो तूने अनन्त वार परिभ्रमणके द्वारा बिना भोगे ही छोड दिया हो। अर्थात् इसलोकमें कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां तेने अनंत बार जन्म मरण धारण न किया हो इसके प्रत्येक प्रदेशपर तेने अनंतबार जन्म मरण धारण किया है। परंतु समस्त कर्मोंके [illegible] रहित केवल मोक्षस्थान ही एक

ऐसा स्थान है जो तेने आज तक कभी कौतूहल मात्रसे भी नहीं किया है। भावार्थ—इस जीवने आजतक केवल मोक्षस्थानका ही स्पर्श नहीं किया है बाकीके लोकाकाशके प्रदेशोंमें तो इसने अनंतवार जन्म मरण धारण किया है इसलिये अब मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि इस जीवके लिये यही एक नवीन स्थान है बाकीके सब स्थान तो भोगे हुए उच्छिष्ट हैं उनका तो त्याग करना ही उत्तम है ॥ ३७ ॥

इति लोकानुप्रेक्षा ॥ ९ ॥

——:o:——

आपातरम्यवचनैर्विरसावसानै-
र्जन्मोद्भवैः सुखलवैः स्खलितान्तरंगः ।
दुःखानुषंगकरमर्जितवान्यदेन-
स्तत्त्वं स वहतजीव न यातम् ॥३८॥

अर्थ—हे पापी हतजीव ! देख ! ये स्त्री आदि भोगोपभोगोंके थोड़ेसे सुख केवल अनुभव करते समय मनोहर जान पड़ते हैं परन्तु इनका अंत अत्यंत ही कड़वा और नीरस है तथा वह सुख स्त्री माला चंदन आदि संसारके पदार्थोंसे उत्पन्न होता है अथवा वह सुख जन्म मरण रूप संसारको बढ़ानेवाला है सुखदायी नहीं है ऐसे इस थोड़ेसे तेरा

हृदय चलायमान होगया है इसीलिये तू शारीरिक मानसिक और आगन्तुक दुःखोंको उत्पन्न करनेवाला पाप उपार्जन करता रहता है अतएव उन उपार्जन किये हुए नवीन कर्मोंके फलको भी तु ही सहन कर । भावार्थ—ये इंद्रियोंके सुख भोगते समय अच्छे जान पडते हैं परंतु इनका फल अत्यंत दुःख रूप है यह जानता हुआ भी तू उन पापोंको बारबार उपार्जन करता है इसलिये यदि उन दुःखोंसे बचना है तो इंद्रियोंके सुखोंमें लीन मत हो । अनंत सुखमय आत्मामें लीन हो जिससे निरन्तर रहनेवाले अनन्त सुखकी प्राप्ति हो ॥

कालुष्यमेषि यदिह स्वयमात्मकामो
जागर्ति तत्र ननु कर्म पुरातनं ते ।
योऽहिं विवर्धयति कोऽपि विमुग्धबुद्धिः
स्वस्योदयाय स नरः प्रवरः कथं स्यात् ॥

हे जीव ! इस संसारमें विषयोंकी अभिलाषा करता हुआ तू जो अपने परिणामोंमें कलुषता धारण करता है उसमें भी तेरे पहिलेके इकट्ठे किये हुए कर्मोंका उदय ही कारण है । यदि पहिलेके अशुभ कर्मोंका उदय न होता तो परिणामोंमें कलुषता नहीं होती । सो ठीक ही है क्योंकि जो महा अज्ञानी वा मूर्ख पुरुष दूध आदि पिलाकर केवल अपना भला चाहनेकेलिये सर्पका पालन पोषण करता है वह पुरुष किस प्रकार कहा जा सकता है ? भावार्थ—

जिस प्रकार सर्पके पालन पोषण करनेसे आत्माका भला नहीं होता उसी प्रकार कर्मोंके उपार्जन करनेसे आत्माका कभी कल्याण नहीं होता। वे कर्म उदयमें आकर दुःख देते हैं उस दुःखसे अशुभ परिणाम होते हैं उन अशुभ परिणामोंसे फिर अशुभ कर्मोंका बंध होता है। यदि शुभ कर्मोंका उदय हुआ तो उससे अनेक की इच्छाएं लालसाएं उत्पन्न होती हैं जिससे कि फिर अशुभ कर्मोंका ही बंध होता है। इसलिये कर्मोंका नाश करना ही आत्माको कल्याणकारी है। कर्मोंके नाशसे ही आत्माको अनंत सुखकी प्राप्ति होती है॥ ३९॥

आतंकपावकशिखाः मरसावलेखाः
स्वस्थे मनागमनसि ते लघु विस्मरान्ति।
तत्कालजातमातिविस्फुरितानि पश्चा—
ज्जीवान्यथा यदि भवन्ति कुलोऽप्रियं ते॥

अर्थ—हे जीव! तू थोडा ही नीरोग वा सुखी होने पर अपने मनमें नवीन नवीन अनुभवमें आई हुई उन रोग रूपी अग्निकी ज्वालाओंको बहुत ही शीघ्र भूल जाता है यदि तू उस रोगके समय उत्पन्न हुए विचारोंको "यदि मैं अबकी वार इस रोगसे छूट जाऊंगा तो अवश्य ही धर्मका सेवन करूंगा" इन विचारोंको न भूल जाय, ये विचार तुझे सुखके समयमें भी याद रहें तो फिर

पापोंका उपार्जन कभी हो ही नहीं सकेगा। भावार्थ—यह जीव दुःख वा रोगके समय तो विचार करता है कि यदि मैं इस दुःखसे छूट जाऊंगा तो अवश्य ही धर्मका सेवन करूंगा परन्तु ज्योंही वह दुःख चला जाता है त्योंही उसके साथ ही उन विचारोंको भी भूल जाता है, और फिर इंद्रियोंके सुखोंमें तल्लीन हो जाता है यदि दुःख छूट जानेके समय भी इस जीवके ये विचार स्थिर बने रहें और उसके अनुसार यह धर्म सेवन करता रहे तो फिर यह जीव न तो कभी पापोंका उपार्जन कर सकता है और न कभी दुःखी हो सकता है। फिर तो यह जीव शीघ्र ही कर्मोंको नाशकर सुख प्राप्त कर सकता है इसलिये धर्म सेवन करनेकी वांछा इस जीवको सदा अपने हृदयमें धारण करना चाहिये और उसके अनुसार सदा धर्मका सेवन करते रहना चाहिये ॥ ४० ॥

इति निर्जराप्रेक्षा ॥ १० ॥

श्रद्धाभिसन्धिरवधूतरहिः समीह—
स्तत्त्वावसायसलिलाहितमूलबन्धः।
आत्मायमात्मनि तनोति फलद्वयार्थी
धर्मं तमाहुरमृतोपमसस्यमाप्ताः ॥ ४१ ॥

धारण किये

हुए है, पंचेंद्रियोंके विषयोंकी इच्छा सब जिसने दूर कर दी है अर्थात् पापरूपी क्रियाओंके त्याग करने रूप चारित्रको जिसने धारणकर रक्खा है तथा सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य पांच अस्तिकाय आदि तत्त्वोंके सम्यग्ज्ञानरूपी संसारकी तृष्णाको दूर करनेवाले जलके द्वारा जिसने अपनी जड़ सींच रक्खी है अर्थात् जिसने सम्यग्दर्शनसहित सम्यग्ज्ञान धारण कर रक्खा है और जो स्वर्ग मोक्ष इन दोनोंकी प्राप्ति रूप फलको ही चाहता है, जो कुछ करता है वह सब स्वर्ग मोक्षकी इच्छासे ही करता है अन्य किसी संसारी कार्योंकी इच्छासे नहीं । ऐसा यह आत्मा अपने आत्मा में जो कुछ क्रिया करता है उसीको सर्वज्ञ देव धर्म कहते हैं वही धर्म अमृतके समान फल देनेवाला है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको धारण करनेवाला आत्मा केवल स्वर्ग मोक्षकी इच्छासे अपने आत्मामें लीन होकर जो कुछ ध्यान आदि क्रिया करता है उसीको सर्वज्ञ देव धर्म कहते हैं ऐसे धर्मको धारण करनेसे ही यह जीव समस्त कर्मोंको नाशकर अजर अमर पद कर लेता है और अनंतसुखी हो जाता है ॥ ४१ ॥

मैत्र्यादिदयादमशमागमनिर्वृतानां
बाह्येन्द्रियप्रसरवर्जितमानसानाम् ।
विद्याप्रभापहतमोहमहाग्रहाणां
धर्मः परापरफलः ॥

अर्थ—मुझसे सब जीव सुखी रहें ऐसे भावोंको मैत्री कहते हैं, दूसरोंके हित करनेकी प्रवृत्तिको दया कहते हैं, पंचेंद्रियोंको जीतना वशमें रखना दम है, उत्तम क्षमाको शम कहते हैं और भगवान सर्वज्ञ देवके वचनोंको आगम कहते हैं। जो जीव मैत्री दया दम शम और आगमको धारण करनेसे अत्यन्त आनन्दको प्राप्त हुए हैं अथवा मैत्री दया दम शमको आगमके अनुसार धारण कर जो परम आनन्दको प्राप्त हुए हैं तथा जिनका मन स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द आदि पांचों इंद्रियोंके विषयोंमें पांचों इंद्रियोंकी प्रवृत्तियोंको कभी नहीं होने देता और जिन्होंने सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रोंके माहात्म्यसे मोह वा अज्ञानरूपी महा पिशाचको नाश कर दिया है ऐसे मनुष्य मोक्ष और सांसारिक सुख देनेवाले धर्मको बड़ी अच्छी तरहसे सुगमताके साथ धारण कर लेते हैं।

भावार्थ—स्वर्ग मोक्ष देनेवाला यह धर्म ऐसे ही मनुष्योंके द्वारा धारण किया जाता है जो सब जीवोंमें मैत्रीभाव धारण करते हैं, दया पालन करते हैं, इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं उत्तम क्षमा धारण करते हैं, शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं अपनी इन्द्रियोंको किसी भी विषयमें नहीं लगने देते और जो शास्त्रोंका पठन पाठन कर अज्ञान और मोहको हटा देते हैं।

इच्छाः फलैः कलयति प्ररुणद्धि बाधाः

ज्योतींषि दूतयाति चात्मसमीहितेषु
धर्मः स शर्मनिधिरस्तु सतां ताय ॥

अर्थ—जो धर्म स्त्री पुत्र धन धान्य आरोग्य आदि शुभ फल देकर जीवोंके मनोरथोंको पूर्ण करता है, जो शारीरिक मानसिक और आगंतुक दुःखोंको दूर करता है जो राज्य आदि विभूतियोंको देकर संसारमें अपनी अनुपम सा को प्रगट करता है जो आत्माको इष्ट अनंत दर्शन, ज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य रूप अनंत चतुष्टयोंकेलिए श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यय ज्ञानरूपी दूतोंको भेजता है और जो सुखोंका निधि है ऐसा वह जगतप्रसिद्ध धर्म सज्जन व विद्वान् लोगोंको मोक्ष देनेवाला है। भावार्थ—यह धर्म ही सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला है, धर्म ही सब दुखोंको दूर करनेवाला है, धर्म ही र्थ्य करने है, धर्म ही का निधि है और धर्म ही ऋद्धियां तथा अनंत चतुष्टयको प्राप्त कराने ा है, न लोगोंको य ऐसा धर्म धारण करना चाहिये जिससे कि उन्हें शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो ।

देहोपहारकृतपैः स्वपरोपतापैः
कृत्वाध्वरेश्वरामिषं विदलन्मनीषाः।
धर्मैषिणो य. केचन मान्द्य ज-
स्ते जातजीविताधियो

अर्थ—इस संसारमें कितने ही बुद्धिहीन जड़रूप मनुष्य ऐसे हैं जो कहने सुननेवाले और करनेवाले सबको दुःख देनेवाले ऐसे तलवारके द्वारा स्त्री पुरुष वा पशुओंको मार कर चढाना अथवा वेदोंको प्रमाण मानकर यज्ञादिकमें पशु-ओंको होमना आदि पापरूप क्रियोंके द्वारा यज्ञ करने वा महादेवकी पूजा करनेके वहानेसे ही धर्मात्मा बनना चहते हैं परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो मनुष्य जीनेकी इच्छा रखकर विषको पीते हैं।

भावार्थ—यज्ञमें किसी जीवको होमना या किसी देव वा देवीपर किसी पशुको वा पक्षीको चढाना पाप है धर्म नहीं है क्योंकि हिंसा करनेसे कभी धर्म नहीं हो सकता। हिंसासे तो पाप ही होता है अथवा यों कहना चाहिये कि हिंसा सब पापोंकी जड है जो लोग किसी भी प्रकारसे हिंसा को धर्म मानते हैं वे जीनेकी इच्छासे विष पीना चाहते हैं। इसलिए अहिंसारूप धर्म ही आत्माका कल्याण करनेवाला है अन्य नहीं।

येऽन्यत्र मन्त्रमहिमेक्षणमुग्धबोधाः
शर्वेषिणः पुनरतः शिवतां गृणन्ति।
ते नावि तारणदृशो दृशदोऽथलम्ब्य
दुष्पारमम्बुधिजलं परिलंघयन्ति॥ ७५॥

—जो ... वीतरागको छोड़कर अन्य

मतोंमें मंत्रोंकी महिमा देखकर मोहित वा अज्ञानी हो जाते हैं और शिव मतको वा अन्य मतोंको मानने लगते हैं तथा फिर उन्हींसे स्वयं मुक्त होनेकी इच्छा करते हैं वे पुरुष नाव मनुष्योंको पार कर सकती है ऐसी बुद्धि रखकर केवल पत्थरका सहारा लेकर अपार महासागरके जलको पार करना चाहते हैं। भावार्थ—जिसप्रकार यह मनुष्य पत्थर का सहारा लेकर समुद्रसे पार नहीं हो सकता उसीप्रकार कोई भी जीव वीतराग सर्वज्ञ देवके कहे हुए मतको छोड़ कर अन्य हिंसारूप धर्मको माननेवाले मतोंको पालन करने से कभी मुक्त नहीं हो सकता। इसका भी कारण यह है कि वीतराग हुए विना कभी कषाय वा विकार छूट नहीं सकते और कषायोंके छूटे बिना यह जीव कभी पापोंसे नहीं बच सकता। इसलिये पापोंसे बचनेका एक मात्र उपाय कषायोंका त्याग करना है। समस्त कषायोंका नाश होनेपर यह जीव वीतराग होता है और वीतराग होनेपर सर्वज्ञ होता है उसी अवस्थामें यह अनन्त सुखी होता है। तथा मिथ्याभाषण वा मिथ्या उपदेश अज्ञान वा राग द्वेषसे होता है जो वीतराग और सर्वज्ञ है उसका उपदेश कभी मिथ्या नहीं हो सकता वह यथार्थ ही होगा। इसलिये सर्वज्ञ वीतरागका कहा हुआ मोक्षका मार्ग ही यथार्थ मार्ग है उसीसे इस जीवका कल्याण हो सकता है अन्यसे नहीं। सर्वज्ञ वीतराग सर्वज्ञ वीतराग होनेका ही उ' ५ देगा

अवस्था है इसलिये वही मत यथार्थ है उसीको पालन करनेसे जीवका कल्याण हो सकता है अन्यसे नहीं।

धर्मश्रुतेरिह परत्र च येऽविचाराः
संदिह्य तामसदृशः सततं यतन्ते।
दुग्धाभिधानसमताविलबुद्धयस्ते
नूनं गवार्करसपानपरा भवन्तु ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो श्रीजिनेंद्रदेवके अनुयायी कहलाकर भी उसको यथार्थ रूपसे नहीं मानते, रात दिन धर्म श्रवण करते हुए भी अरहंत देवके कहे हुए मतमें और अन्य मतोंमें यथेष्ट अन्तर नहीं समझते, उसमें सदा संदेह करते रहते हैं और फिर भी वे मिथ्यादृष्टि उसीरूपमें धर्म पालन करनेकी चेष्टा करते हैं वे केवल नामसे ही दूधकी समानतारूप भ्रष्ट बुद्धिको धारण करते हुए अवश्य ही गायके दूधके भरोसे आकका दूध पीनेमें तत्पर होजाते हैं। भावार्थ—जो पुरुष केवल दूध यह नाम सुनकर ही और सफेद पतलेको देख कर ही गायके दूधके बदले आकका दूध पीते हैं वे अवश्य ही मूर्ख और अविचारी कहलाने योग्य हैं इसी प्रकार जो मनुष्य अरहन्तदेवके कहे हुए धर्ममें और अन्य धर्मोंमें कुछ अन्तर नहीं समझते 'इनमेंसे कौनसा धर्म अच्छा है यह वा वह अथवा दोनों' इस [illegible] रका जो संदेह [illegible] हैं वास्तवमें वे भी मिथ्यादृष्टि हैं इस अवस्थामें

उनका धर्म पालन करना भी कुछ कार्यकारी नहीं। इस-लिये आत्मकल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको सर्वज्ञ वीतराग-देवका कहा हुआ धर्मका पालन करना चाहिये क्योंकि यही यथार्थ मोक्षमार्गको बतलानेवाला है अन्य नहीं।

अज्ञस्य शक्तिरसमर्थविधेर्निबोध-
स्तौ चारुचेरियममू तुदती न किंचित्।
अन्धांघ्रिहीनहतवांछितमानसानां
न जातु हितवृत्तिरनन्तराया॥४७॥

अर्थ—अज्ञानी वा मिथ्याज्ञानी पुरुषके चारित्र नहीं हो सकता तथा चारित्रहीन पुरुषके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र नहीं हो सकता। यह मिथ्यादर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र दोनोंको पीड़ित करता है अर्थात् दोनोंको नहीं होने देता। जिसप्रकार कि अंधे लंगडे और इच्छा रहित योंका हित निर्विघ्न रीतिसे कभी देखनेमें नहीं आता। थे—जिस प्रकार अंधा लंगडा और आलसी वा इच्छारहित मनुष्यका हित निर्विघ्न रीतिसे नहीं हो उसीप्रकार मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र धारण करनेवालेको अथवा सम्यग्दर्शनरहित -ज्ञान रहित और सम्यक्चारित्ररहित पुरुषको मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। मोक्षकी प्राप्ति इन तीनों रत्नोंकी पूर्णतासे होती है। यह न गो ल मिक

सकती है, न केवल सम्यग्ज्ञानसे मिल सकती है और न केवल सम्यक्चारित्रसे मिल सकती है इन तीनोंके मिलकर पूर्ण होनेसे ही मिल सकती है इनके विपरीत मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे तो कभी किसी तरहसे नहीं मिल सकती । इससे सिद्ध होता है धर्मका स्वरूप रत्नत्रय ही है अन्य नहीं ॥ ४७ ॥

चार्व्या रुचौ तदुचिता चरणे च नृणां
दृष्टार्थसिद्धिरगदादिनिषेवणसु ।
तस्मात्परापरफलप्रदधर्मकामा
सन्तस्त्रयावगमनीतिपरा भवन्तु ॥ ४८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कोई रोगी पुरुष उस रोगको दूर करनेवाली औषधिको अच्छी तरह जानता हो, रुचिपूर्वक उस कडवी औषधिको भी पीनेकी इच्छा रखता हो और फिर रुचिपूर्वक उसे पीता हो तभी वह अपने रोगको दूर कर सकता है अन्यथा नहीं उसीप्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके होने पर ही मोक्षरूप कार्यकी सिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं । इसलिये जो पुरुष इस स्वर्गमोक्ष देनेवाले धर्मको पालन करना चाहते हैं उन्हे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंका अच्छी तरह जान लेना चाहिये । भावार्थ—

द्वितयविकलमूर्तिर्वीक्षमाणोऽपि पंगुः ।
अपि सनयनपादोऽश्रद्धानश्च तस्माद्
दृगवगमचरित्रैः संयुतैरेव सिद्धिः ॥

अर्थात्—जिसप्रकार जलते हुए वनमें अकेला अंधा पुरुष भी नहीं बच सकता, न दोनों पैरोंसे रहित लंगडा उस अग्निको देखता हुआ भी बच सकता है और न उस अग्निपर अविश्वास रखनेवाला पैर आंख दोनोंके रहते हुए भी बच सकता है उसीप्रकार न अकेले सम्यग्दर्शनसे कर्म नष्ट हो सकते हैं न सम्यग्ज्ञानसे और न अकेले सम्यक्चारित्रसे किंतु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके मिलनेसे—पूर्ण होनेसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं ॥ ४८ ॥

इति धर्मानुप्रेक्षा ।

—:*:—:*:—

संसारसागरमिमं भ्रमता नितान्तं
जीवेन मानवभवः समवापि दैवात् ।
तत्रापि यद्भुवनमान्यकुले प्रसूतिः
सत्संगतिश्च तदिहान्धकवर्तकीयम् ॥४९॥

अर्थ—प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले चतुर्गतिरूप संसार सागरमें अत्यंत परिभ्रमण करते हुए इस जीवको

मनुष्यजन्म बड़े पुण्यकर्मोंके उदयसे प्राप्त हुआ है उस मनुष्य जन्मके पालेनेपर भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन उत्तम कुलोंमें जन्म होना और महामुनि ऐसे सज्जन पुरुषोंका समागम मिलना इस संसारमें अंधेके हाथ बटेर लगनेके समान अत्यंत दुर्लभ है। भावार्थ—इस संसारमें प्रथम तो मनुष्य जन्म ही अत्यंत दुर्लभ है क्योंकि संसारमें अनंत जीवराशि भरी हुई है उनमें यह मनुष्य जन्म ही उत्तम है जोकि बड़े पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त होता है। कदाचित् ऐसे ही किसी पुण्य कर्मके उदयसे वह मनुष्य जन्म प्राप्त भी हो जाय तो जिस प्रकार कोई अंधा पुरुष दोनों हाथोंसे ताली बजावे और उसके दोनों हाथोंके मध्यमें बटेर पक्षी आजाय इस प्रकार अंधेके हाथ बटेरका लगना अत्यंत कठिन है उसी प्रकार उत्तम कुलमें जन्म होना और मुनियोंका समागम मिलना भी अत्यंत कठिन है, अत्यंत दुलभ है।

कृच्छ्राद्वनस्पतिगतश्च्युत एष जीवः
श्वभ्रेषु कल्मषवशेन पुनः प्रयाति।
तेभ्यः परस्परविरोधिमृगप्रसूता-
वस्याः पशुप्रतिनिभेषु कुमानवेषु ॥ ५० ॥

अर्थ—यद्यपि यह आत्मा स्वानुभूतिसे प्रत्यक्ष होने-वाला है तथापि तिर्यंच गतिमें परिभ्रमण करते हुये इसे अनंत [illegible] है वहांसे निकलना इसके लिये अत्यंत कठिन

हो जाता है कदाचित् बडी कठिनतासे वहांसे निकल भी आवे तो फिर पाप कर्मके उदयसे नरकमें जा । है और कितनी ही वार तिर्यंच होकर फिर सातों नरकोंके घोर दुखोंका अनुभव करता है। फिर वहांसे निकलकर सिंह हाथी, वाघ, हिरण, विल्ली, चूहा, न्योला, सर्प, मयूर, वाज, कबूतर, आदि परस्पर विरोध रखनेवाले जातिविरोधी तिर्यंच गतिके जीवोंमें जन्म लेता है और फिर वहांसे भी निकलकर पशुओंके समान रहनेवाले कुभोग भूमियोंके म्लेच्छ मनुष्योंमें जन्म लेता है। भावार्थ—प्रथम तो निगोदसे निकलना ही अत्यंत कठिन है फिर पृथिवी जल तेज वायु वनस्पति कायोंसे निकल कर त्रस पर्याय मिलना अत्यंत दुर्लभ है, त्रस पर्यायमें भी दोइन्द्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय और पंचेंद्रिय पशुओंमें वहुत दिनतक परिभ्रमण करता रहता है वहांसे निकला तो फिर नरकमें जा पड़ता है वहांसे फिर तिर्यंच होता है फिर नरकमें जाता है फिर जातिविरोधी जीवोंमें जन्म लेता है फिर नरक जाता है इन दोनों गतियोंसे निकलना अत्यन्त कठिन है कदाचित् निकला और मनुष्य गति प्राप्त हुई तो पशुओंके समान रहनेवाले कुभोग भूमियोंमें जा उत्पन्न होता है इसप्रकार यह जीव चारों गतियोंमें परिभ्रमण किया करता है ॥ ५० ॥

संसारयन्त्रमुदयास्तघटीपरीतं

इत्थं चतुर्गतिसरित्परिवर्तमध्य-
मावाहयेत्स्वकृतकर्मफलानि भोक्तुम् ॥

अर्थ—यह संसार एक प्रकारकी अरहटकी घडीका यंत्र है इसके चारों ओर सूर्यके उदय और अस्तरूपी घडियां (पानी भरनेके छोटे घडे) लगी हुई हैं। बहुत बडा पापोंका समूह ही इसके चलानेकी लंबी और मोटी रस्सी (वरत) है। मानसिक दुःखरूपी अगाध जलसे यह भरा हुआ है और नरक तिर्यंच मनुष्य देव इन चारों गतिरूप नदीके भंवरके मध्य भागमें यह यन्त्र लगा हुआ है ऐसे संसाररूपी अरहट की घडीके इस यंत्रको अपने किये हुए पुण्य पापरूप कर्मोंके दु फलोंको भोगनेकेलिये ऊपरके ५० वें श्लोक में कहे अनुसार चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव सदा चलाया करता है। भावार्थ—यह जीव जो चारों गतियोंमें परिभ्रमण किया करता है वह मानों इस संसार यंत्रको चलाया करता है यदि इसका यह परिभ्रमण बन्द हो जाय तो इसका जन्म मरण रूप वा संसारके दुख सब बंद हो जाय। इसलिये उन दुःखोंसे बचनेके लिये इस जीवको चाहिये कि वह आगे लिखे अनुसार रत्नत्रयकी प्राप्तिका उपाय करे। विना रत्नत्रयको प्राप्त किये वह कभी अनंतसुखी नहीं हो सकता ॥ ५१ ॥

कशोकभयभोगकलत्रपुत्रै-
र्यः स्वेदयेन्मनुजजन्ममनोरथाप्तम्।

नूनं स भस्म तधीरिह रत्नराशि-
मुद्दीपयेदतनुमोहमलीम त्मा ॥ ५२ ॥

अर्थ—यह मनुष्य जन्म अनेक मनोरथोंसे प्राप्त हुआ है जो मनुष्य इस मनुष्य जन्मको पाकर भी केवल रोग शोक भय, धन धान्यादिक भोग, स्त्री, पुत्र आदिके द्वारा गंवा देता है समझना चाहिये कि उसका आत्मा प्रबल मोहसे अत्यन्त मलिन हो रहा है और वह केवल भस्मके लिये बहुमूल्य अनेक रत्नोंकी राशियोंको जला देता है। भावार्थ—इस संसारमें मनुष्य जन्मकी प्राप्ति ही अत्यंत दुर्लभ है इसको पाकर भी जो मोक्षमार्गमें नहीं लगते, धर्म सेवन नहीं करते केवल धन कमाने वा परिवारके पालन पोषणहीमें लगे रहते हैं वे सबसे अधिक मूर्ख हैं। अत्यन्त प्रबल मोहनीय कर्मके उदयसे ही वे इसप्रकार जन्मको खो रहे हैं परन्तु उनका इसप्रकार मनुष्य जन्मका खोना केवल भस्मके लिये बहुमूल्य रत्नोंको जलाना है। क्योंकि एकवार निकल जानेपर फिर यह मनुष्य जन्म थोडे ही मिलता है। इसलिये इस मनुष्य जन्मको पाकर धर्म सेवन करना और रत्नत्रयकी प्राप्ति करना ही इस मनुष्यका कर्तव्य है इसीसे यह मनुष्यजन्म सफल हो सकता है अन्यथा नहीं ॥ ५२ ॥

बाह्यप्रपंचविमुखस्य शमोन्मुखस्य
मपनरुचः प्रियतत्त्ववा ः।

प्रत्यक्प्रवृत्तहृदयस्य जितेन्द्रियस्य
भव्यस्य बोधिरियमस्तु पदाय तस्मै ॥

अर्थ—जो भव्य जीव विषय कषायरूपी बाह्य प्रपंचोंसे परान्मुख है जिसका आत्मा शांत है अथवा जिसके पाप कर्म (दर्शन मोहनीय कर्म) उपशम होनेवाला है, जो समस्त प्राणियोंकी दया पालन करनेमें गाढ श्रद्धा रखता है, जिसकी वाणी कानोंको अमृतके समान मधुर लगती है और यथार्थ तत्त्वोंका निरूपण करती है, जिसका हृदय परमात्माके स्वरूपमें ही लगा रहता है और जिसने अपनी सब इन्द्रियां वशमें कर ली हैं ऐसे भव्य जीवकेलिये यह रत्नत्रयकी प्राप्ति उस जगतप्रसिद्ध मोक्षरूप परमपदको देनेवाली हो । भावार्थ—इस संसारमें रत्नत्रयकी प्राप्ति होना ही अत्यन्त दुर्लभ है और वह ऊपर लिखे गुणोंसे विभूषित भव्य जीवको ही प्राप्त होती है इसलिये रत्नत्रय प्राप्त करनेके लिये इस मनुष्यको विषयकषाय छोड देने चाहिये, सब जीवोंमें दया रखनी चाहिये, आगमके अनुसार वचन कहने चाहिये, जितेन्द्रिय बनना चाहिये और परमात्माके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही इसको रत्नत्रयकी प्राप्ति होगी और रत्नत्रयसे मोक्ष प्राप्त होकर यह जीव सदाके लिए अनंत सुखी हो जायगा ॥ ५२ ॥

इति बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा ॥ १२ ॥

संस्थाके छपे हुये भाषाटीका सहित

उत्तमोत्तम जैन शास्त्र।

परीक्षामुख ।) संस्कृतप्रवेशिनी–दोनों भाग १॥)

संस्कृतप्रवेशिनी–द्वितीय भाग ॥) जैनबालबोधक द्वितीय भाग ।≈)

तत्त्वज्ञानतरंगिणी १≈) जैनबालबोधक तृतीय भाग ॥=)

सुभाषितरत्नसंदोह खुलेपत्र २) असहमतसंगम १)

मकरध्वजपराजय–हिन्दी, काम और जिनदेवका युद्ध ॥)

„ कच्ची जिल्दका ॥≈) पक्की जिल्दका ॥)

परमाध्यात्मतरंगिणी–संस्कृत और भाषाटीका सहित (थोडी है) २॥)

जिनदत्तचरित्र भाषावचनिका ॥) जिल्दका ॥) विनतीसंग्रह =)

आराधनासार सजिल्द १=) तत्त्वार्थसार भाषाटीका ४)

पात्रकेशरीस्तोत्र भाषाटीका सहित ।) तीर्थयात्रा दर्शक ॥)

गोम्मटसारजी–दोनोंकाड पूर्ण, और लब्धिसार क्षपणासार सहित खुलेपत्र ४००० पृष्ठ ५१) ग्रन्थत्रयी ॥) जिल्दकी ॥≈) रविव्रत कथा –)

गोम्मटसारजी–कर्मकाड पूर्ण, लब्धिसार क्षपणासारजी, और भाषा संदृष्टि सहित ३४) चारित्रसार २) धर्मपरीक्षा ॥-)

लब्धिसार क्षपणासारजी भाषाटीका संदृष्टि सहित १२॥)

द्रव्यसंग्रह सान्वयार्थ =) छहढाला संग्रह ≈)

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा सजिल्द ॥) जैनकथा संग्रह सजिल्द ॥)

भदैया पूजा संग्रह ॥) शीलकथा ≈) दर्शनकथा ≈) दानकथा ≈)

विशेष जाननेकेलिये बडा सूचीपत्र मंगाकर देखिये।

मिलनेका पता— श्रीलाल जैन,

मंत्री–भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था,

Printer Srilal Jain
JAIN SIDDHANT PRAKASHAK PRESS,
9 Visvakosha Lane, Baghbazar,
CALCUTTA.

श्रीवीतरागाय नमः ।

विनती-संग्रह ।

—:०:—

१

दोहा ।

सकल-ज्ञेय-ज्ञायक तदपि, निजानंदरसलीन ।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरिरजरहस विहीन ।

पद्धरी छंद ।

जय वीतराग विज्ञानपूर । जय मोह तिमिर को हरन सूर ॥ जय ज्ञान अनंतानंतधार । दृग-सुखवीरजमंडित अपार ॥ जय परमशांतिमुद्रासमेत । भविजनको निजअनुभूतिहेत ॥ भवि-भागनवश जोगेवशाय । तुम धुनि ह्वै सुनि विभ्रम नशाय ॥ तुम गुण चिंतत निजपरवि-

[illegible] गाहै [illegible] नेक [illegible] ग

भूषण दूषणवियुक्त । सब महिमायुक्त विकल्प मुक्त ॥ अविरुद्ध शुद्ध चेतनस्वरूप । परमात्म परमपावन अनूप ॥ शुभ अशुभ विभाव अभाव कीन । स्वाभाविक परिणतिमय अछीन ॥ अष्टादशदोषविमुक्त धीर । सुचतुष्टयमय राजत गभीर ॥ मुनि गणधरादि सेवत महंत । नव-केवललब्धि-रमा धरंत ॥ तुम शासन सेय अ-मेय जीव । शिव गये जाहिं जै हैं सदीव ॥ भव-सागरमें दुख खार-वारि । तारनको और न आप टारि ॥ यह लखि निजदुखगदहरणकाज । तुम ही निमित्तकारण इलाज ॥ जाने, तातैं मैं शरण आय । उचरौं निज दुख जो चिर लहाय । मैं भ्रम्यौ अपनपो विसरि आप । अपनाये वि-धिफल पुण्यपाप ॥ निजको परको करता पि-छान । परमें अनि । इष्ट ठान ॥ आकुलित भयौ अज्ञान धारि । ज्यौं मृग मृगतृष्णा जानि वारि ॥ तनपरणतिमें आपो चितारि । कबहूं

कलेश । पाये सो तुम जानत जिनेश ॥ पशु-नारक-नर-सुर-गति-मझार । भव धर धर मर्यो अनंतवार ॥ अब काललब्धिवलतैं दयाल । तुम दर्शन पाय भयो खुशाल ॥ मन शांत भयो मिट सकल द्वंद्व । चाख्यो स्वातमरस दुखनिकंद ॥ तातैं अब ऐसी करहु नाथ । बिछुरै न कभी तुम चरणसाथ ॥ तुम गुणगणको नहिं छेव देव । जगतारनको तुम विरद एव ॥ आतमके अ-हित विषय कषाय । इनमें मेरी परिणति न जाय ॥ मैं रहूं आपमें आप लीन । सो करौ होहुं ज्यों निजाधीन ॥ मेरे न चाह कछु और ईश । रत्नत्रयनिधि दीजे मुनीश ॥ मुझ कारजके का-रन सु आप । शिव करहु हरहु मम मोहताप ॥ शशि शांतकरन तपहरनहेत । स्वयमेव तथा तुम कुशल देत ॥ पीवत पियूष ज्यों रोग जाय त्यों तुम अनुभवतैं भव नसाय ॥ त्रिभुवन तिहुं कालमंझार कोय । नहिं तुम विन निज सुख-दाय होय ॥ मो उर यह निश्चय भयौ आज ।

दोहा।

तुम गुणगणमणि गणपती, गणत न पावहिं पार
'दौल' स्वल्पमति किम कहै, नमूं त्रियोग संभार

२

दोहा।

विश्वभावव्यापी तदपि, एक विमल चिद्रूप।
ज्ञानानंदमयी सदा, जयवंतो जिनभूप॥

चौपई, छंद (१५ मात्रा)।

सफली मम लोचनद्वंद। देखत तुमको जिनचंद
मम तनमन शीतल एम। अम्रतरस सींचत जेम
तुम बोध अमोघ अपारा। दर्शन पुनि सर्वनिहारा
नंद अतिन्द्रिय राजे। बल अतुलस्वरूप न
जे॥ इत्यादिक स्वगुन अनन्ता। अन्त-
र्लक्ष्मी भगवंता। बाहिज विभूति बहु सोहै।
वरनन समर्थ कवि को है॥ तुम वृच्छ अशोक
सुस्वच्छ। शोकहरनको दच्छ॥ तहं चंच-
रीक गुंजारैं। मानो तुम स्तोत्र उचारैं॥ शुभ
रत्नमयूख विचित्र। सिंहासन-शोभ पवित्र॥

तहां वीतराग छवि सोहै । तुम अंतरीछ मन मोहै । वर कुन्दकुन्द-अवदात । चामरव्रज सर्व सुहात ॥ तुम ऊपर मघवा ढारै । धरि भक्ति भाव अघ टारै ॥ मुक्ताफलमालसमेत । तुम ऊर्ध्व छत्र त्रय सेत ॥ मानौं तारान्वित चन्द । त्रय मूर्ति धरी द्युतिवृन्द ॥ शुभ दिव्य पटह वहु वाजैं । अतिशयजुत अधिक विराजैं । तुमरो जस घोकैं मानौं । त्रैलोक्यनाथ यह जानौं ॥ हरिचन्दन सुमन सुहाये । दशदिशि सुगंधि मह्काये ॥ अलिपुंज विगुंजत जामैं । शुभ वृष्टि होत तुम सामैं ॥ भामंडल दीप्ति अखंड । छिप जात कोटि मार्तंड ॥ जग लोचनको सुखकारी । मिथ्यातमपटल निवारी ॥ तुमरी दिव्यध्वनि गाजे । विन इच्छा भविहित काजे ॥ जीवादिक तत्वप्रकाशी । भ्रमतमहर सूर्यकलासी इत्यादि विभूति अनंत । वाहिज अतिशय अरहंत ॥ देखत मम भ्रमतम भागा । हित अ-

गारी। मैं दीन दुखी संसारी ॥ तातैं सुनिये यह अरजी। तुम शरन लियौ जिनवरजी ॥ मैं जीवद्रव्य विनअंग। लागौ अनादि विधि संग ॥ तो निमित पाय दुख पाये। हम मिथ्यातादि महा ये। निज गुन कबहूं नहिं भाये। सब परपदार्थ अपनाये। रति अरति करी सुखदुखमैं। ह्वै करि निजधर्मविमुख मैं ॥ परचाह दाह नित दाहौ। नहिं शांतसुधा अवगाहौ ॥ पशु नारक नर सुरगतमें। चिर भ्रमत भयौ भ्रममतमें॥ कीनै बहु जामन मरना। नहिं पायौ सांचौ शरना। अब भाग उदय मो आयौ। तुम दर्शन निर्मल पायौ ॥ मन शांत भयौ उर मेरो। बाढ़ौ उछाह शिवकेरो ॥ परविषयरहित आनन्द। निज रस चाख्यौ निरद्वंद ॥ मुझ काजतनैं कारन हो। तुम देव तरन तारन हो ॥ तातैं ऐसी अब कीजे। तुम चरन-भक्ति मोहि दीजे ॥ दृग-ज्ञान-चरन परिपर। पाऊं निश्चय ॥ दायक विषय

कषाय । इनमें परिनति नहिं जाय ॥ सुरराज समाज न चाहौं । आतम-समाधि अवगाहौं । पर इच्छा मो मनमानी । पूरो सव केवलज्ञानी ॥

दोहा ।

गनपति पार न पावहीं, तुम गुनजलधि विशाल
भागचन्द्र तुव भक्ति हो, करे हमें वाचाल ॥

हरिगीतिका (२८ मात्रा) ।

तुम परम पावन देव जिन, अरि-रज-रहस्य विनासनं । तुम ज्ञान-दृग-जलवीच त्रिभुवन, कमलवत प्रतिभासनं, आनन्द निजज अनन्त अन्य, अचिंत संतत परनये । वल अतुल कलित स्वभावतैं नहिं, खलित गुन अमिलित थये ॥ सव राग रुष हन परम श्रवन, स्वभाव घन निर्मल दशा । इच्छारहित भवहित खिरत वच सुनत ही भ्रमतम नशा । एकान्त-गहन-सुदहन स्यात्पद, वहनमयं निजपर दया । जाके प्रसाद विषाद विन, मुनिजन सपदि शि-

वपद लहा ॥ भूषण वसन सुमनादिविन तन, ध्यानमय मुद्रा दिपै । नासाग्र नयन सुपलक न हलय न, तेज लखि खगगन छिपै ॥ पुनि वदन निरखत प्रशम जल, वरषत सुहरषत उर धरा । बुद्धि स्वपर परखत पुन्यआकर, कलिकलिल दुरखत जरा ॥ इत्यादि बाहिरंतर असाधारन सुविभवनिधान जी । इन्द्रादिवंत पदारविंद अ-निंद तुम भगवानजी ॥ मैं चिरदुखी परचाह-तैं, तुम धर्म नियत न उर धरौ ॥ परदेवसेव करी बहुत, नहिं काज एक तहां सरौ ॥ अब भाग-चन्द्रउदय भयौ, मैं शरन आयौ तुमतने । इक दीजिये वरदान तुम जस, स्वपददायक बुध भने ॥ परमाहिं इष्ट अनिष्ट-मति तजि, मगन निज गुनमें रहौं । दृग-ज्ञान-चर संपूर्ण पाऊं, 'भागचंद' न पर चहौं ॥ ३ ॥

४

पुलकन्त नयन चकोरपक्षी, हँसत उर इंदीवरौ दुर्बुद्धि चकवी बिलखि बि री, निबिड मिथ्या-

तम हरौ ॥ आनन्द अम्बुज उमगि उछर्यौ, अखिल आतप निरदले। जिनवदन पूरनचंद्र निरखत, सकल मनवांछित फले ॥ मुझ आज आतम भयौ पावन, आज विघ्न विनाशियौ। संसारसागर नीर निवर्यौ, अखिल तत्त्व प्रकाशियौ। अब भई कमला किंकरी मुझ, उभयभव निर्मल ठये । दुख जरौ दुर्गतिवास निवरौ, आज नवमंगल भये ॥ २ ॥ मनहरन मूरति हेरि प्रभुकी, कौन उपमा लाइये । मम सकल तनके रोम हुलसे, हर्ष ओर न पाइये ॥ कल्याणकाल प्रतच्छ प्रभुको, लखैं जो सुरनर घने । तिस समयकी आनन्दमहिमा, कहत क्यों मुखसौं बने ?॥ ३ ॥ भर नयन निरखे नाथ तुमको, और वांछा ना रही । मन ठठ मनोरथ भये पूरन, रंक मानौं निधि लही ॥ अब होय भव भव भक्ति तुम्हरी, कृपा ऐसी कीजिये । कर जोर 'भूधरदास' विनवै, यही वर [illegible] ीजिये ॥ ४ ॥

५

तुम तरन तारन भवनिवारन, भविक-मन आनन्दनो। श्रीनाभिनन्दन जगतवन्दन, आदिनाथ जिनिन्दनो॥ तुम आदिनाथ अनादि सेऊं, सेय पद पूजा करौं। कैलाशगिरिपर ऋषभ जिनवर, चरणकमल हृदय धरौं॥

अजितनाथ अजीत जीते, अष्टकर्म महाबली। यह जानकर तुम शरण आयौ, कृपा कीजे नाथजी॥ तुम चन्द्रवदन सुचन्द्रलक्षण, चन्द्रपुरीपरमेशजू। महासेननन्दन जगतवंदन, चन्द्रनाथजिनेशजू॥ २॥ तुम बाल ब्रह्म विवेकसागर, भव्यकमलप्रकाशनो। श्रीनेमिनाथ पवित्र दिनकर, पापतिमिर विनाशनो॥ तुम तजी राजुल राजकन्या, कामसेन्या वश करी। चारित्ररथ चढि भये दूलह, जाय शिवसुन्दरि वरी॥ ३॥ इन्द्रादि जन्मस्नान जिनके, करन कनकाचल चढे। गंधर्वदेवन सुयश गाये अपसुरा मंगल पढे॥ इह विधि सुरासुर निजनि-

योगी, सकल सेवाविधि ठही । ते पार्श्वप्रभु मो आस पूरो चरणसेवक हों सही ॥ ४ ॥ तुम ज्ञानरवि अज्ञानतमहर. सेवकन सुख देत हो। मम कुमतिहारन सुमतिकारन दुरित सब हर लेत हो । तुम मोक्षदाता कर्मघाता. दीन जानि दयाकरो । सिद्धार्थनन्दन जगतवन्दन. महावीरजिनेश्वरो ॥ ५ ॥ चौबीस तीर्थंकर सुजिनको. नमत सुरनर आयके॥ मैं शरण आयो हर्ष पायो. जोर कर सिर नायके ॥ तुम तरन तारन हो प्रभूजी. मोहि पार उतारियो । मैं हीन दीनदयालु प्रभुजी. काज मेरो सारियो॥ यह अतुल महिमासिन्धु साहब. शक्र पार न पावही। तजि हास्य भय तुम दास 'भूधर' भक्तिवशजस गावही ॥ ७ ॥

६

गुरुविनती

वंदौं दिगंबरगुरुचरन. जग तरन तारन जान। जे भरम भारी रोगको. हैं राजवैद्य महान ॥

जिनके अनुग्रह विन कभी. नहिं कटे कर्म जंजीर। ते साधु मेरे मन वसौ. मेरी हरौ पातक पीर ॥ १ ॥ यह तन अपावन अशुचि है संसार सकल असार । ये भोग विषपकवानसे. इस भांति सोच विचार ॥ तप विराचि श्रीमुनि वन वसे. सब त्यागि परिग्रहभीर । ते साधु मेरे मन वसौ. मेरी हरौ पातक पीर ॥ २ ॥ जे काच कंचन सम गिनैं. अरि मित्र एक सरूप। निंदा बडाई सारिखी. वनखंड शहर अनूप । सुख दुःख जीवन मरनमें. नहिं खुशी नहिं दिलगीर । ते साधु मेरे मन वसौ. मेरी हरौ पातक पीर ॥ ३ ॥ जे बाह्य परवत वन वसैं. गिरि गुहा महल मनोग । सिल सज समता सहचरी। शशिकिरण दीपकजोग ॥ मृग मित्र भोजन तपमई. विज्ञान निरमल नीर । ते साधु मेरे मन वसौ. मेरी हरौ पातक पीर ॥ ४ ॥ सूखैं सरोवर जल भरे. सूखैं तरंगनि-तोय । वाटैं वटोही ना चलैं. जहँ

मुनिवर तप तपैं. गिरिशिखर ठाढे धीर। ते साधु मेरे मन वसौ. मेरी हरौ पातक पीर ॥५॥ घनघोर गरजैं घनघटा, जल परै पावसकाल। चहुंओर चमकै वीजुरी. अति चलै शीतल व्यार। तरुहेट तिष्ठै जब जती, एकान्तअचल शरीर। ते साधु मेरे मन वसौ, मेरी हरौ पातक पीर ॥ ६ जब शीतमास तुषारसौं, दाहै सकल वनराय। जब जमै पानी पोखरां, थरहरै सबकी काय ॥ तब नगन निवसैं चौहटैं, अथवा नदीके तीर। ते साधु मेरे मन वसौ, मेरी हरौ पातक पीर ॥ ७ ॥ कर जोर 'भूधर' वीनवे, कब मिलैं वे मुनिराज। यह आस मनकी कब फलै, मेरे सरैं सगरे काज ॥ संसार विषम विदेशमें, जे विनाकारण वीर। ते साधु मेरे मन वसौ, मेरी हरौ पातक पीर ॥ ८ ॥

७

चौपाई (१६ मात्रा)

नामी । पतितउध

अंतरजामी ॥ दास दुखी तुम अति उपगारी । सुनिये प्रभु ! अरदास हमारी ॥ यह भव घोर समुद्र महा है । भूधर भ्रम-जल-पूर रहा है ॥ अंतर दुख दु:सह बहुतेरे । ते बडवानल साहिं मेरे ॥ जनम जरा गद मरन जहां है । ये ही प्रबल तरंग तहां है ॥ आवत विपति नदीगन जामें । मोह महान मगर इक तामें ॥ तिस मुख जीव परयौ दुख पावै । हे जिन ! तुमबिन कौन छुडावै ॥ असरन शरन अनुग्रह कीजे । यह दुख मेटि मुकति सुझ दीजे ॥ दीरघ काल गयौ विललावैं । अब ये सूल सहे नहिं जावैं ॥ सुनियत यौं जिनशासनमाहीं । पंचमकाल परमपद नाहीं ॥ कारन पांच मिलैं सब सारे ॥ तब शिव सेवक जाहिं तुम्हारे ॥ तातैं यह विनती अब मेरी । स्वामी ! शरण लई हम तेरी । प्रभु आगैं चितचाह प्रकासौं । भव भव श्रावक-कुल अभिलासौं ॥ भव भव [

भवमें सतसंगति पाऊं। भव भव साधुनके गुन गाऊं॥ परनिंदा मुख भूलि न भाखूं। मैत्री-भाव सबनसों राखूं॥ भव भव अनुभव आतमकेरा। होहु समाधिमरण नित मेरा॥ जबलौं जनम जगतमें लाधौं। काल-लवधि-बल लहि शिव साधौं॥ तबलौं ये भापति मुझ हूजौ। भक्तिप्रताप मनोरथ पूजौ॥ प्रभु सब समरथ हम यहै लोरैं। 'भूधर' अरज करत कर जोरैं॥

८

त्रिभुवनगुरु स्वामी जी, करुनानिधि नामी जी। सुनि अंतरजामी, मेरी विनती जी॥ १॥ मैं दास तुम्हारा जी. दुखिया बहु भाराजी। दुख मेटनहारा. तुम जादौंपती जी॥ २॥ भरम्यौ संसारा जी. चिर विपाचि–भंडारा जी, कहिं सार न सारे. चहुंगति डोलियौ जी ॥३॥ दुख मेरु समाना जी। सुख सरसों-दाना जी। अब जान धरि ज्ञान. तराजू तोलिया

... त पाया जी। त्रसतन घ-

राया जी. मे कुं कहाया. मरि भँवरा भया जी ॥ ५ ॥ पशुकाया सारी जी। नाना विधि धारी जी । जलचारी थलचारी. न पखेरुवा जी ॥ ६ ॥ नरकनके माहीं जी. दुख ओर न काहीं जी । अति घोर जहां है. सरिता खारकी जी ॥ ७ ॥ पुनि असुर संघारैं जी, निज वैर विचारैं जी । मिल बांधे अरु मारैं. निरदय नारकी जी ॥८॥ मानुष अवतारै जी. रह्यौ गरभमंझारै जी । रटि रोयौ जनमत. वारैं मैं घनों जी ॥९॥ जोवन तन रोगी जी. कै विरहवियोगी जी । फिर भोगी बहुविधि. विरधपनाकी वेदना जी ॥ १० ॥ सुरपदवी पाई जी । रंभा उर लाई जी । तहां देखि पराई. संपति झूरियौ जी.॥ ११ ॥ माला मुरझानी जी. जब आराति ठानी जी । स्थिति पूरन जानी. मरत विसूरियौ जी ॥ १२ ॥ यौं दुख भवकेरा जी. भुगतो बहुतेरा जी । प्रभु! मेरे कह पार न ` ं जी ॥

जी, चाहौ नित साता जी । सुखदाता जग-
त्राता, तुम जानै नहीं जी ॥ प्रभु भागनि पाये
जी, गुण श्रवण सुहाये जी । ताकि आयौ सब
सेवककी, विपदा हरौ जी ॥ भववास वसेरा
जी, फिरि होय न मेरा जी । सुख पावै जन
तेरा, स्वामी सो करौ जी ॥ तुम शरनसहाई
जी, तुम सज्जन भाई जी । तुम भाई तुम्हीं बाप
दया मुझ लीजिये जी ॥ 'भूधर' कर जोरे जी,
ठाडो प्रभु औरे जी । निजदास निहार, निर-
भय कीजिये जी ॥

९

ढाल परमादी ।

अहो जगतगुरु एक, सुनियो अरज हमारी ।
तुम प्रभु ! दीनदयाल, मैं दुखिया संसारी ॥ इस
भववनके मांहि, काल अनादि गमायौ । भ्रमत
चहूंगतिमांहि, सुख नहिं दुख बहु पायो ॥ कर्म
महारिपु जोर, एक न कान करै जी । मनमानौ
[illegible] देहिं, [illegible] न करैं जी ॥ कबहं इतर

निगोद, कबहूं नरक दिखावैं। सुर नर पशु-गतिमाहिं, बहुविधि नाच नचावैं॥ प्रभु! इनके परसंग, भव भवमाहिं बुरे जी। जो दुख देखे देव! तुमसौं नाहिं दुरे जी॥ एक जनमकी बात, कहि न सकौं सुनि स्वामी। तुम अनंत परजाय, जानत अंतरजामी॥ मैं तो एक अनाथ, ये मिलि दुष्ट घनेरे। कियौ बहुत बेहाल सुनियौ साहिब मेरे॥ ज्ञान महानिधि लूटि, रंक निबल करि डारयो। इनहीं तुम मुझमाहिं हे जिन! अंतर पारयो॥ पाप पुण्य की दोय, पांयनि बेडी डारीं। तनकारागृहमांहि, मोहि दियो दुख भारी॥ इनको नेक बिगार, मैं कछु नाहिं कियौ जी। बिन कारन जगबंधु, बहुविधि बैर लियौ जी॥ अब आयौ तुम पास, सुन जिन सुजस तिहारौ। नीति निपुन महाराज, कीजे न्याव हमारौ॥ दुष्टनि देहु निकास साधुनिकौं रखि लीजे। बिनवै 'भूधरदास' हे प्रभु ढील न कीजे॥

१०

दोहा (रागभरथरी)

ते गुरु मेरे मन वसौ, जे भव-जलधि-जिहाज ।
आप तिरैं पर तारहीं, ऐसे श्रीऋषिराज ॥
तेगुरु० ॥ मोह महारिपु जीतिकैं छाड्यो सवघर
वार । होय दिगम्बर वन वसैं, आतम शुद्ध
विचार ॥ ते गु० ॥ रोगउरग बिल वपु गिण्यौं,
भोग भुजंग समान । कदलीतरु संसार है,
त्यागौ सव यह जान । ते गुरु० । रतनत्रय निधि
उर धरैं, अरु निरग्रंथ त्रिकाल । मार्यौ काम
खवीसको, स्वामी परम दयाल ॥ ते गु० ॥ पंच
महाव्रत आदरैं, पांचौं सुमिति समेत । तीन गु-
पति पालैं सदा, अजर अमरपदहेत ॥ ते गु० ॥
धर्म धरैं दशलक्षणी, भावैं भावना सार । सहैं
परीषह बीस द्वै, चारित-रतन भंडार । ते गु० ॥
जेठ तपै रवि आकरौ, सूखैं सरवरनीर । शैल
शिखर मुनि तप तपैं, दाहैं नगन शरीर ॥ ते
० ॥ पावस रैन डरावनी, वरसै जलधर धार ।

तरुतल निवसैं साहसी, वाजै झंझावार ॥ ते गु० शीत पडै कपि-मद गलै, दाहै सब वनराय । ताल तरंगनिके तटै, ठाडे ध्यान लगाय ॥ ते गुरु० ॥ इहि विधि दुद्धर तप तपैं, तीनौं काल मझार । लागे सहज सरूपमैं, तनसौं ममत निवार ॥ ते गुरु० ॥ पूरव भोग न चिंतवैं, आगम बांछा नाहिं । चहुंगतिके दुखसौं डरैं, सुरत लगी शिवमाहिं ॥ ते गु० ॥ रंगमहलमैं पोढते, कोमल सेज विछाय । ते पच्छिम निशि भूमिमें, सोवैं संवरि काय ॥ ते गु० ॥ गज चढि चलते गरबसौं, सेना सजि चतुरंग । निरखि निरखि पग वे धरैं, पालैं करुणा अंग ॥ ते गुरु० ॥ वे गुरु चरण जहां धरैं, जगमें तीरथ जेह । सो रज मम मस्तक चढौ, 'भूधर' मांगे येह ॥ ते गु० ॥

११

करुणा ल्यो जिनराज हमारी, करुणा ल्यो ॥ टेक ॥ अहो जगतगुरु जगपती, परमानंदनि-

धान । किंकरपर कीजे दया, दीजे अविचल थान ।। हमारी० ।। भवदुखसौं भयभीत हौं, शिवपद वांछा सार । करौ दया मुझ दीनपै, भवबंधन निरवार ।। ह० ।। पर्यो परम भव कूपमें, हे प्रभु काढौ मोहि । पतित उधारण हो तुम्हीं, फिर फिर विनऊं तोहि ।। ह० ।। तुम प्रभु परम दयाल हो, अशरणके आधार । मोहि दुष्ट दुख देत हैं, तुमसौं करहुं पुकार ।। ह० ।। दुःखित देखि दया करै, गांवपती इक होय । तुम त्रिभुवनपति कर्मतैं क्यौं न छुडावौ मोय ह० ।। भव-आताप तबै भजै, जब राखौं उर धोय । दया-सुधा करि सीयरा, तुम पदपंकज दोय ।। ह० ।। येही इक मुझ वीनती, स्वामी ! हर संसार । बहुत धज्यौ हूं त्रासतैं, विलख्यौ बारंबार ।। ह० ।। पदमनंदिको अर्थ लै, अरज करी हितकाज । शरणागत भूधर तनी, राखौ

१२

सोरठा।

पारसप्रभुको नाउं, सार सुधारस जगतमें।
मैं याकी बलि जाउं, अजर अमरपदमूल यह॥

हरिगीता (१८ मात्रा)

राजत उतंग अशोक तरुवर, पवन प्रेरित थरहरै। प्रभु निकट पाय प्रमोद नाटक, करत मानौं मनहरै॥ तिस फूलगुच्छन भ्रमर गुंजत, यही तान सुहावनी। सो जयौ पार्श्वजिनेन्द्र पातक हरण, जगचूडामनी। टेक०॥ निज मरन देखि अनंग डरप्यौ, शरण ढूंढत जग फिरै। कोई न राखै चोर प्रभुको, आय पुनि पांयन गिरै। यौं हार निज हथियार डारे, पुहपवर्षा मिस भनी। सो जयौ०॥ प्रभु अंग नील उतंग गिरितैं, वानि शुचि सीता ढली। सो भेदि भ्रम गजदंत पर्वत, ज्ञान सागरमें रली॥ नय सप्तभंग-तरंग-मंडित. पापतापविध्वंसनी। सो

वृन्द सुहावने । ढोलैं निरंतर यक्षनायक, कहत क्यों उपमा बने ॥ यह नील गिरिके शिखर मानों, मेघझर लागी घनी । सो जयौ० ॥ हीरा जवाहिर खचित बहुविध, हेमआसन राजए । तहं जगत जनमनहरन प्रभु तन, नील वरन विराजए । यह जटित वारिज मध्य मानो, नीलमणि कलिका बनी । सो जयौ० ॥ जगजीत मोह महान जोधा, जगतमें पटहा दियौ । सो शुकलध्यान कृपान बल, जिन विकट वैरी वश कियौ ॥ ये बजत विजय निशान दुंदुभि जीत सूचें प्रभुतनी ॥ सो जयौ० ॥ छद्मस्थ पदमें प्रथम दर्शन, ज्ञान चारित आदरे । अब तीन तेई छत्र छलसों, करत छाया छवि भरे ॥ अति धवलरूप अनूप उन्नत, सोमबिंब प्रभा हनी । सो जयौ० ॥ दुति देखि जाकी चंद सरमै, तेजसों रवि लाजए । अब प्रभामंडल जोग जगमें कौन उपमा छाजए ॥ इत्यादि अतुल [illegible] सो[illegible]भे त्रिभुवनधनी ॥ सो

जयो० ॥ यौं असम महिमासिंधु साहब, शक्र पार न पावहीं । तब हासमय तुम दास 'भूधर' भगतिवश यश गावहीं ॥ अब होउ भवभव स्वामि मेरे, मैं सदा सेवक रहौं । कर जोरि यह वरदान मांगौं, मोखपद जावत लहौं ॥ १० ॥

१२

प्रभु पतितपावन मैं अपावन, चरन आयौ शरन जी । यौ विरद आप निहार स्वामी, मेट जामन मरन जी ॥ तुम ना पिछान्यो आन मान्यो देव विविध प्रकार जी । या बुद्धिसेती निज न जाण्यो, भ्रम गिण्यो हितकार जी ॥ भवविकट वनमें करम वैरी, ज्ञानधन मेरो हर्यो । तब इष्ट भूल्यौ भ्रष्ट होय, अनिष्टगति धरतौ फिर्यौ । धन घडी यो धन दिवस यो ही, धन जनम मेरो भयो । अब भाग मेरो उदय आयो दरश प्रभुको लख लयो ॥ छवि वीतरागी नगनमुद्रा, दृष्टि नासापै धरैं । वसु प्रातिहार्य अनन्तगुणयुत, कोटिरविछविकौं हरैं ॥ मिटि गयौ तिमिर

मिथ्यात मेरो, उदय रवि आतम भयौ। मो उर हरप ऐसो भयौ मनो, रंक चिंतामणि लयौ ॥ मैं हाथ जोड नवाय मस्तक, वीनऊं तुव चरन जी। सर्वोत्कृष्ट त्रिलोकपति जिन, सुनो तारन तरन जी ॥ जांचू नहीं सुरवास पुनि नरराज परिजन साथ जी। वुध जांचहूं तुव भक्ति भव भव, दीजिये शिवनाथ जी ॥

१४

दोहा।

गुणसमुद्र लखि रूप तुम, हुलसौ चित्त अपार।
अब मो हृदय रहो सदा, निर्विकल्प अविकार ॥

पद्धडी छंद।

राजत स्वभावमय त्याग आन। उपकारी सब जीवन सुजान ॥ आनन्दरूप नित रहैं आप। तज दिये सर्वविधि पुण्य पाप ॥ सामान्य विशेषगुणात्म शुद्ध। स्वचतुष्टययुत राजत सुबुद्ध ॥ त्रैकाल्य अर्थ परजाय जान। हो वीतराग सब ॥ मरस आस्वाद लेत। आक-

लता विन सब सुख समेत ॥ लहि स्वच्छ स्व-
छन्द अमंद ज्ञान । लोक रु अलोक जानो
प्रमान ॥ स्वाभाविक संपति देनहार । स्वय-
मेव करन जीवन उद्धार ॥ प्रभु तुम सरूप लखि
धरत धीर। मैं दुखी भयो सो सुनो पीर ॥ भर-
मों अनादि अज्ञान धार । सुख मानौं परसे
प्रीति पार ॥ इन्द्रियोंजनित सुख लीन होय ।
सब विधि आपनको दयौ खोय ॥ प्रिय त्रिय
सुत मात पिता सुदेख । अपने मानें कारण वि-
शेष ॥ पर्याय बनी असमान जाति । विन भेद
लिये यह सब सुहात ॥ मैं करौं कहा कछु ना
बसाय । विधि जोग पाय सुधि बिसर जाय ॥
तुमसौं कबलौं कहिये सुजान । जानते स्वपर
परनति प्रमान ॥ मैं सहौं दुःख सो हरो नाथ ।
अब ही कीजे निज चरण साथ ॥ तुम सब
लायक ज्ञायक उदार । रत्नत्रय सम्पति देनहार ।
उपकारी तुम विन नहीं कोय । तुमहीसे यह
विधि हो सहोय ॥ मैं [illegible]

आपन सम कर तारे अनेक ॥ यह विरदधार मुझे तार देव । उपकार उचित हो करौ एव ॥ हो ज्ञानानंदसरूप धार । रागादिकसे मुहि करौ उद्धार ॥ मो चाह रही ना कछु और, मैं चाहत हौं निज भाव दौर ॥ महिमा दीखै अद्भुत जिनेश । इच्छा पूरत ना कष्ट लेश ॥ मुझ अंतरंग उपजी जो चाह । सो तुम विन निज कहौं पीर काह ॥ सुख लहौं स्वसंवेदन जु आप । अब देहु मिटै सब मोहताप ॥

दोहा ।

सब विधि समरथ हो प्रभू, मैं विधिवस हौं दीन ।
चरण शरण निज जानके, 'उदय' करौ स्वाधीन ॥

१५

भुजंगप्रयात छंद ।

नरेंद्रं फणीन्द्रं सुरेन्द्रं अधीसं । शतेन्द्रं सुपूजैं भजैं नाय शीसं ॥ मुनींद्रं गणेंद्रं नमैं जोडि हाथं । नमों देवदेवं सदा पार्श्वनाथं ॥ गजेंद्रं [illegible] । महा आगतैं नागतैं

तू बचावै ॥ महावीरतैं युद्धमैं तू जितावै । महा-
रोगतैं बंधतैं तू खुलावै ॥ दुखी-दुःखहर्त्ता सुखी-
सुखकर्त्ता । सदा सेवकोंको महानंदभर्त्ता ॥
हरे यक्ष राक्षस भूतं पिशाचं । विषं डांकनी
विघ्नके भय अवाचं । दरिद्रीनको द्रव्यके दान
दीने । अपुत्रीनको तू भले पुत्र कीने ॥ महा
संकटोंसे निकारै विधाता । सबै सम्पदा सर्वको
देहि दाता ॥ महाचोरकौ वज्रकौ भय निवारै ।
महापौनके पुंजतैं तू उबारै ॥ महाक्रोधकी अ-
ग्निको मेघधारा । महालोभ शैलेशको वज्र
मारा ॥ महामोह अन्धेरको ज्ञानभानं । महाकर्म
कांतारको दौ प्रधानं ॥ किये नाग नागिनि
अधोलोकस्वामी । हरौ मान तू दैत्यको हो
अकामी ॥ तुही कल्पवृक्षं तुही कामधेनं । तुही
दिव्यचिंतामणी नाग एनं ॥ पशू नर्कके दुःखसे
तू छुडावै । महास्वर्गमैं मुक्तिमैं तू बसावै ॥ करै
लोहको हेमपाषाण नामी । रटै नाम सो क्यों
न हो मोक्षगामी ॥ करै सेवे

सेवा। सुने बैन सो ही लहै ज्ञानमेवा ॥ जपै जाप ताको नहीं पाप लागैं। धरै ध्यान ताके सबै दोष भाजैं ॥ विना तोहि जानें धरे भव घनेरे। तुम्हारी कृपातैं सरैं काज मेरे ॥

दोहा।

गणधर इन्द्र न कर सकैं, तुम विनती भगवान।
'द्यानत' प्रीत निहारकै, कीजे आप समान ॥

१६

हरिगीता।

मंगलसरूपी देव उत्तम, तुम शरण्य जिनेश जी। तुम अधमतारण अधम मम लखि, मैंट जन्म-कलेश जी। तुम मोह जीत अजीत, इच्छातीत शर्मामृत भरे। रजनाश तुम वर-भास दृग नभ, ज्ञेय सब इक उडु चरे ॥ रट रास क्षति अति अमित वीर्य, सुभाव अटल-सरूप हो। सब रहित दूषण त्रिजगभूषण, अज अमल चिद्रूप हो ॥ इच्छा विना भवि-भाग्यतैं तम ध्वनि सु होय निरक्षरी। षट्द्रव्य गुणपर्यय

अखिलयुत, एक क्षणमें उच्चरी ॥ एकांतवादी कुमतिपक्ष,-विलिप्त-इभध्वनिमदहरी । संशय-तिमिरहर रविकला, भव-शस्यकौं अमृतझरी ॥ वस्त्राभरण विन शांतिमुद्रा, सकलसुरनरमन हरे । नासाग्रदृष्टि विकारवर्जित, निरखि छवि संकट टरै ॥ तुम चरण पंकजनखप्रभा, नभ कोटिसूर्यप्रभा धरैं । देवेंद्र नाग नरेंद्र नमत सु, मुकुटमणिद्युति विस्तरैं ॥ अंतर बाहिर इत्यादि लक्ष्मी, तुम असाधारण लसे । तुम जाप पाप-कलाप नासे, ध्यावतैं शिवथल वसे ॥ मैं सेय कुदृग कुवोध अव्रत, चिर भ्रमौं भव वन सबै । दुख सहे सर्व प्रकार गिरिसम, सुख न सर्षप सम कबै ॥ पर चाह दाह दहौं सदा, कबहूं न साम्यसुधा चखौ । अनुभव अपूरव स्वादुविन नित, विषयरस चारौ भखौ ॥ अब वसो मो उरमें सदा प्रभु, तुम चरणसेवक रहौं । वर भक्ति अतिदृढ होहु मेरे, अन्य विभव नहीं चहौं ॥ एकेन्द्रियादिक अन्त ग्रीवक, तक तथा अंतर

धनी। पर्याय पाय अनन्तवार, अपूर्व सो नहिं शिवधनी ॥ संसृति भ्रमणतैं थकित लखि, निज दासकी सुन लीजिये। सम्यक्दरश वर ज्ञान चारित,-पथ-'विहारी' कीजिये ॥ ६ ॥

१७

दोहा।

ज्ञानानंद अनंत शिव, अर्हन् मंगलमूल।
कलिलकुलाचल तोड कर, हरौ नाथ भवशूल ॥
तुम शिवमग-नेतार हो, भेत्ता कर्मपहार।
विश्वतत्वज्ञाता परम, लो सुधि वेग हमार ॥
तुम त्रिभुवनके भानु हो, मैं खद्योत समान।
कैसैं तुम गुण वरनऊं, अल्प मतिनकी वान ॥
हृदयभक्ति प्रेरक भई, बल कर पकरे कान।
ला पटक्यौ पदकमल बिच, सकल जगतगुरु जान ॥
तुम अनंत गुणआगरे, पटतर अवर न कोय।
तुम वाणीतैं जानिये, जो कछु जगमें होय ॥
भूत भविष्यत कालकी, षट द्रव्यन परजाय।
तुम ..ौ, हस्तामलक समाय ॥

सकल चराचर जगतथित, ज्ञानमुकर रहि सूज ।
तातैं तुम अर्हंत हो, सकल जगत करि पूज ॥
तुमतैं गणधरने सुन्यौ, चहुंगतिमय संसार ।
तातैं तुम हो परमगुरु, पतितउधारनहार ॥
वीतराग सर्वज्ञ तुम, तारण तरण महान ।
तातैं तुमरे वचन प्रभु, हैं षटमत परमान ॥
धरम अहिंसा तुम कह्यो, जहं हिंसा तहं पाप ।
दयावंत भवजल तिरैं, पापी जगसंताप ॥
जीवदयागुण बेलडी, बोई ऋषभ जिनेश ।
षटदर्शनमंडप चढी, सींची भरत नृपेश ॥
मिथ्या वचन अनादरे, तुमने हे जगसेत ।
तातैं झूठनकी सुरत, जहां तहां सिर रेत ॥
सत्य धर्मतैं होत है, त्रिभुवनमें परतीत ।
सततैं गोला लोहका, होय तुषार प्रतीत ॥
चोरी तुम वर्जन करी, परम पाप लखि धीर ।
त्यागी पद पद पूजिये, चोर सहैं बहु पीर ॥
अनाचार वर्जन कियौ, ग्रहन करन कह्यौ शील
जिन धारौ सो जग तिरे. जिन छाडौं कढी कील

शील शिरोमणि जगतमें, तासम धर्म न और।
अग्नि होय जल परिनवै, विष हो अमृतकौर॥
खड्ग माल ह्वै परिणवै, सूल सेज मखतूल।
आधिव्याधि आवै नहीं, शीलवंत ढिंग भूल॥
भवतृष्णा दुखदायिनी, नाशी तुम भगवान।
त्यागी त्रिभुवनपति भये, रागी नरक निदान॥
देव धर्म गुरु हो तुम्हीं, ज्ञान ज्ञेय ज्ञातार।
ध्यान ध्येय ध्याता तुम्हीं, हेयाहेय विचार॥
कारन हो शिवपंथके, उद्धारक जगकूप।
कारज सारन जीवके, हो तुम ही शिवभूप॥
उत्तमजन बहु जगततैं, तारे तुम भगवान।
अधम न तारो एक मैं, तारो हे जग-जान॥
आयो तुमपद पूजने, भजन करनके चाव।
राखो भव भव भजनमें, जब लग जग-भरमाव॥
भजन करत संसारसुख, भजन करत निरवान।
भजन विना नर जगतमें, है तिर्यंच समान॥
भजन करत जग उद्धरे, सिंह नकुल कपि सूर।
• नाथर ा वृषभेशके. क्त भये अघचूर॥

निर अंजन अंजन भये, गज किरात भये सिद्ध स्वान जटा पन्नग तिरे, तिनकी कथा प्रसिद्ध ॥ कहां पशुपरजाय नर, कहां मुक्तिको धाम । तू भी मूरख भजन कर, मुखमें भली न चाम ॥ या जग विषम विदेशमें, बंधु भजन भगवान। सार्थवाह निर्वृत्तिको, लखि निश्चय उर आन॥ भजन वादि जिनभक्ति विन, भक्ति वादि विन भाव। भाव वादि अवगाढ विन, गाढ वादि विन चाव ॥ धन्य मुहूरत धन घडी, धन्य दिवस जिन। आज। तरस तरस कारन जुडौ, श्रीजिनभजन समाज ॥ रहौ सदा शैली सुखी, रहौ सदा सत्संग। जातैं श्रीजिनभजनमें, प्रति दिन होय उमंग ॥ धन्य पुरुष सज्जन मिले, भये सहायक धर्म। भजन करौ भगवंतको, राखि सरस्वति सर्म॥ तू केवलउद्योतकी, परमज्योति तमहार। 'नयनानन्द' गरीबकी, यह विनती उर धार ॥

१८

चौपई।

प्रभु इस जग समरथ ना कोय। जासौं तुम जस वर्णन होय ॥ चार ज्ञान धारी मुनि थकैं। हमसे मंद कहा कर सकैं ॥ यह उर जानत निश्चय कीन। जिनमहिमावर्णन हम हीन ॥ पर तुम भक्तिथके वाचाल। तिस वस होय गुहूं गुणमाल ॥ जय तीर्थंकर त्रिभुवनधनी। जय चन्द्रोपम चूडामनी ॥ जय जय परम धरम दातार। कर्मकुलाचल चूरनहार ॥ जय शिवकामिनिकन्त महन्त। अतुल अनंत चतुष्टयवंत ॥ जय जय आशा-भरन बडभाग। तपलक्ष्मीके सुभग सुहाग ॥ जय जय धर्मध्वजाधर धीर। स्वर्ग-मोक्षदाता वर वीर ॥ जय रत्नत्रय रत्न करंड। जय जिन तारन तरन तरंड ॥ जय जय समोसरनशृंगार। जय संशयवनदहन तुषार ॥ जय जय निर्विकार निर्दोष। जय अ-

। जय ब्रह्मचर्य दल

साज, कामसुभटविजयी भटराज। जय जय मोहमहातरु करी। जय जय मदकुंजरकेहरी॥ क्रोधमहानलमेघ प्रचंड। मान-महीधर दामिनिदंड॥ मायाबेलि धनंजय दाह। लोभसलिलशोषण दिननाह॥ तुम गुणसागर अगम अपार। ज्ञान जहाज न पहुंचै पार॥ तट ही तट पर डोलै सोय। कारज सिद्ध तहां ही होय॥ तुम्हरी कीर्तिबेलि बहु बढ़ी। यत्न बिना जगमंडप चढ़ी॥ और कुदेव सुयश निज चहैं। प्रभु अपने थल ही यश लहैं॥ जगत जीव घूमैं विन ज्ञान। कीनौं मोहमहाविषपान॥ तुम सेवा विषनाशक जरी। यह मुनिजन मिलि निश्चय करी॥ जन्म-लता मिथ्यामत मूल। जनम मरण लागैं तहां फूल॥ सो कबहूं विन भक्ति कुठार। कटै नहीं दुखफलदातार॥ कल्पतरूवर चित्राबेलि, काम पोरषा (?) नवनिधि मेलि। चिंतामणि पारस पाषान, पुण्य पदारथ और महान॥ ये सब एक जन्म . . . जं

सुखदातार नियोग ॥ त्रिभुवननाथ तुम्हारी सेव । जन्म जन्म सुखदायक देव ॥ तुम जग-बांधव तुम जगतात । अशरण शरण विरद विख्यात । तुम सब जीवनके रखपाल । तुम दाता तुम परम दयाल । तुम पुनीत तुम पुरुष प्रमान । तुम समदर्शी तुम सब जान ॥ जय जिन यज्ञ पुरुष परमेश । तुम ब्रह्मा तुम विष्णु महेश ॥ तुम जगभर्ता तुम जगजान । स्वामि स्वयम्भू तुम अमलान ॥ तुम विन तीन काल तिहुं लोय । नाहीं शरण जीवको कोय ॥ यातैं अब करुणानिधि नाथ । तुम सम्मुख हम जोड़ैं हाथ ॥ जबलौं निकट होय निर्वान । जगनिवास छूटै दुखदान ॥ तबलौं तुम चरणांवुज वास । हम उर होउ यही अरदास ॥ और न कुछ बांछा भगवान । हो दयाल दीजे वरदान ॥

१९

श्रीपति जिनवर करुणायतनं, दुखहरन तुमारा

अबार करौ मोहि

देहु विमल कल्याना है ॥ टेक ॥ त्रैकालिक वस्तु प्रतच्छ लखो तुमसों कछु बात न छाना है। मेरे उर आरत जो वरतै निहचै सब सो तुम जाना है ॥ अवलोकि विथा मत मौन गहो नहिं मेरा कहीं ठिकाना है। हो राजिवलोचन सोचविमोचन, मैं तुमसों हित ठाना है ॥ श्री० ॥ सब ग्रन्थनिमें निरग्रंथनिने, निरधार यही गणधार कही। जिननायक ही सब लायक हैं, सुखदायक छायकज्ञानमही ॥ यह बात हमारे कान परी, तब आन तुमारी सरन गही। क्यों मेरी बार विलम्ब करो, जिननाथ कहो यह बात सही ॥ श्री० ॥ काहूको भोग मनोग करो काहूको स्वर्ग विमाना है। काहूको नाग नरेशपती, काहूको ऋद्धिनिधाना है। अब मोपर क्यों न कृपा करते, यह क्या अंधेर जमाना है ॥ इन्साफ करो मत देर करो, सुखवृंद भरो भगवाना है ॥ श्री० ॥ खल कर्म मुझे हैरान किया तब तुमसों आन [illegible] है।

न न्याव करो, तब बंदेका क्या चारा है ॥ खलघालक पालक बालकका, नृप, नीति यही जग सारा है। तुम नीतिनिपुन त्रैलोकपती, तुम ही लगि दौर हमारा है॥ श्री० ॥ जबसे तुमसे पहिचान भई, तबसे तुम ही को माना है। तुमरे ही शासनका स्वामी !, हमको शरना सरधाना है ॥ जिनको तुम्हरी शरनागत है, तिनसों जमराज डराना है। यह सुजस तुम्हारे सांचेका, जस गावत वेद पुराना है ॥ श्री० ॥ जिसने तुमसे दिलदर्द कहा, तिसका तुमने दुख हाना है। अघ छोटा मोटा नाशि तुरत, सुख दिया तिन्हें मनमाना है ॥ पावकसों शीतल नीर किया, औ चीर बढा असमाना है। भोजन था जिसके पास नहीं, सो किया कुबेर समाना है॥ श्री० ॥ चिंतामन पारस कल्पतरू, सुखदायक ये परधाना है। तुव दासनके सब दास यही हमरे मनमें ठह-

चक्रपती पद पाना है। क्या बात कहों विस्तार बडी, वे पावें मुक्ति ठिकाना है ॥ श्री० ॥ गति चार चौरासी लाखविषैं, चिन्मूरत मेरा भटका है। हो दीन बन्धु करुणानिधान, अब लों न मिटा वह खटका है। जब जोग मिला शिव-साधनका, तब विघनकर्मने हटका है ॥ तुम विघन हमारा दूर करो, प्रभु मोको आश तुमारा है ॥ श्री० ॥ गज ग्राहग्रसित उद्धार लिया, ज्यों अंजन तस्कर तारा है। ज्यों सागर गोपदरूप किया, मैनाका संकट टारा है ॥ ज्यों सूलीतैं सिंहासन औ बेडीको काट बिडारा है। त्यों मेरा संकट दूर करो, प्रभु मोको आश तु-मारा है ॥ श्री० ॥ ज्यों फाटक टेकत पांय खुला औ सांप सुमन करि डारा है। ज्यों खड्ग कुसुमका माल किया बालकका जहर उतारा है ज्यों सेठ विपत चकचूर पूर, घर लछमी सुख विस्तारा है। त्यों मेरा संकट दूर करो प्रभु, मोको आश तुमारा है ॥ श्री० ॥ जदपि न० ०

रागादि नहीं, यह सत्य सर्वथा जाना है। चिन-मूरत आप अनंत गुनी, नित शुद्ध दशा शिव-थाना है॥ तदपि भक्तनकी भीति हरो, सुख देत तिन्हें जु सुहाना है। यह शक्ति अचिंत तुम्हारीका, क्या पावै पार सयाना है॥ श्री०॥ दुखखंडन श्रीसुखमंडनका, तुमरा प्रन परम प्रमाना है। वरदान दया जस कीरतिका तिहुं-लोक धुजा फहराना है॥ कमलाधरजी! कम-लाकरजी! करिये कमला अमलाना है। अब मेरी विथा विलोक रमापति, रंच न वार लगाना है॥ श्री०॥ हो दीनानाथ अनाथहितू, जन दीन अनाथ पुकारी है। उदयागत कर्म विपाक हलाहल, मोह विथा विस्तारी है। ज्यों आप और भवि जीवनकी, तत्काल विथा निरवारी है। त्यों 'वृंदावन' यह अर्ज करै प्रभु, आज हमारी वारी है॥ श्री०॥

यह मेरी विथा क्यों न हरो बार क्या लगी॥टेक॥ मालिक हो दो जहानके जिनराज आप ही। ऐबो हुनर हमारा तुमसे छिपा नहीं॥ वेजानमें गुनाह मुझसे वन गया सही। ककरीके चोरको कटार मारिये नहीं॥हो दीनबंधु०॥ दुखदर्द दिलका आपसे जिसने कहा सही। मुश्किल कहर बहरसे लिया है भुजा गही॥ जस वेद औ पुरानमें प्रमान है यही। आनंदकंद श्रीजिनंद देव है तुही॥ हो दीनबंधु०॥ हाथीपै चढी जाति थी सुलोचना सती। गंगामें ग्राहने गही गजरा-जकी गती॥ उस वक्तमें पुकार किया था तुम्हें सती। भय टारके उबार लिया हे कृपापती॥ हो दीनबंधु०॥पावक प्रचंड कुंडमें उमंड जब रहा सीतासे शपथ लेनेको तब रामने कहा॥ तुम ध्यान धार जानकी पग धारती तहां। तत्काल ही सर स्वच्छ हुआ कौल लहलहा॥ हो दी०॥ जब चीर द्रोपदीका दुशासनने था गहा। सब ही सभाके लोग थे कहते हा हा ... नम

भीर पीरमें तुमने करी सहा। परदा ढका सतीका सुजस जक्तमें रहा ॥ हो दीनबंधु० ॥ श्रीपालको सागरविषै जब सेठ गिराया। उनकी रमासे रमनेको आया वो वेहया ॥ उस वक्तके संकटमें सती तुमको जो ध्याया। दुख-दंद फंद मेटके आनन्द बढाया ॥ हो दीनबं० ॥ हरिषेनकी माताको जहां सौत सताया। रथ जैनका तेरा चलै पीछै यों बताया ॥ उस वक्तके अनसनमें सती तुमको जो ध्याया। चक्रीस हो सुत उसकेने रथ जैन चलाया ॥ हो० ॥ सम्य-क्तशुद्ध शीलवती चंदना सती। जिसके नगीच लगती थी जाहिर रती रती ॥ बेरीमें परी थी तुम्हें जब ध्यावती हती। तब वीर धीरने हरी दुखदंदकी गती। जब अंजना सतीको हुआ गर्भ उजारा। तब सासने कलंक लगा घरसे निकारा ॥ वन वर्गके उपसर्गमें तब तुमको चितारा। प्रभुभक्त व्यक्त जानिके भय देव

शील विशाला । तो कुंभतैं निकाल भला नाग जु काला ॥ उस वक्त तुम्हें ध्यायके सती हाथ ही डाला । तत्काल ही वह नाग हुआ फूलकी माला ॥ हो० ॥ १० ॥ जब राजरोग था हुआ श्रीपालराजको । मैना सती तब आपकी पूजा इलाजको ॥ तत्कालही सुंदर किया श्रीपाल-राजको । वह राजरोग भाग गया मुक्तराजको ॥ हो० ॥ ११ ॥ जब सेठ सुदर्शनको मृषा दोष लगाया । रानीके कहे भूपने सूलीपै चढाया ॥ उस वक्त तुम्हें सेठने निज ध्यानमें ध्याया । सूलीसे उतार उसको सिंहासनपै बिठाया ॥ हो० ॥ १२ ॥ जब सेठ सुधन्नाजिको वापीमें गिराया । ऊपरसे दुष्ट था उसे वह मारने आया ॥ उस वक्त तुम्हें सेठने दिल अपनेमें ध्याया । तत्काल ही जंजालसे तब उसको बचाया ॥ हो० ॥ १३ ॥ एक सेठके घरमें किया दारिद्रने डेरा । भोजनका ठिकाना भी न था सांझ सबेर । [illegible]

ध्यानमें धारा। घर उसकेमें तव कर दिया लक्ष्मीका पसारा ॥ हो० ॥ १४ ॥ वलि वादमें मुनिराजसों जब पार ना पाया। तव रातको तलवार ले शठ मारने आया। मुनिराजने निज ध्यानमें मन लीन लगाया। उस वक्त हो प्रतच्छ तहां देव वचाया ॥ हो० ॥ १५ ॥ जब रामने हनुमन्त को गढ लंक पठाया। सीताकी खवर लेनेको सहसैन्य सिधाया ॥ मग वीच दो मुनि-राजकी लख आगमें काया। झठ वार मूसल धारसे उपसर्ग वुझाया ॥ हो० ॥ १६ ॥ जिन नाथहीको माथ नवाता था उदारा। घेरेमें पडा था वह कुलिशकरण विचारा। उस वक्त तुम्हें प्रेमसे संकटमें उचारा। रघुवीरने सव पीर तहां तुरंत निवारा ॥ हो० ॥ १७ ॥ रण-पाल कुंवरके पडी थी पांवमें वेरी। उस वक्त तुम्हें ध्यानमें ध्याया था सवेरी ॥ तत्काल ही सुकुमारकी सव झड पडी वेरी। तुम राजकुं-निवेरी ॥ हो० ॥ १८ ॥

जब सेठके नन्दनको डसा नाग जु कारा। उस वक्त तुम्हें पीरमें धर धीर पुकारा॥ ततकाल ही उस बालका विष भूर उतारा। वह जाग उठा सोके मानों सेज सकारा। हो० ॥ १९ ॥

मुनिमानतुङ्गको दई जब भूपने पीरा। ताले में किया बन्द भरी लोह जँजीरा॥ मुनिईशने आदीशकी स्तुति की है गभीरा। चक्रेश्वरी तब आनिके झट दूरकी पीरा॥ हो० ॥ २० ॥

शिवकोटिने हट था किया सामंतभद्रसों। शिवपिंडकी बन्दन करो शंको अभद्रसों॥ उस वक्त स्वयंभू रचा गुरु भाव भद्रसों। जिनचन्दकी प्रतिमा तहां प्रगटी सुभद्रसों॥ हो० ॥

सूवेने तुम्हें आनके फल आम चढाया। मेंडक ले चला फूल भरा भक्तिका भाया। तुम दोनों को अभिराम स्वर्ग धाम वसाया। हम आपसे दातारको लख आज ही पाया॥ हो० ॥ २२ ॥

कपि स्वान सिंह नेवल अज बैल बिचारे। तिर्यंच जिन्हें रंच न था

इत्यादिको सुरधाम दे शिवधाममें धारे। हम आपसे दातारको प्रभु आज निहारे ॥ हो० ॥ तुम ही अनन्त जन्तुका भय भीर निवारा। वेदोपुराणमें गुरू गणधरने उचारा ॥ हम आपकी शरणागतीमें आके पुकारा। तुम हो प्रतक्ष कल्पवृक्ष इच्छिताकारा ॥ हो०॥ २४ ॥ प्रभु भक्त व्यक्त जक्त भक्त मुक्तके दानी। आनन्दकन्द वृन्दको हो मुक्तके दानी ॥ मोहि दीन जान दीनबन्धु पातक जानी। संसार विषम खार तार अन्तरजामी ॥ हो० ॥ २५ ॥ करुणानिधानवान हो अब क्यों न निहारो। दानी अनन्तदानके दाता हो संभारो ॥ वृषचन्दनन्द वृन्दका उपसर्ग निवारो। संसार विषम खारसे प्रभु पार उतारो ॥ हो दीनबन्धु श्रीपती करुणानिधान जी। अब मेरी व्यथा क्यों न हरो वार क्या लगी ॥ २६ ॥

दोहा ।

जासु धर्मपरभावसौं, संकट कटत अनंत ।
मंगलमूरति देव सो, जैवंतौ अरहंत ॥ १ ॥
हे करुणानिधि सुजनको, कष्टविषै लखि लेत ।
तजि विलंब दुख नष्ट किय, अब विलंब किह हेत ॥ २ ॥

षट्पद ।

तब विलम्ब नहिं कियो, दियो नमिको रजताचल । तब विलंब नहिं कियो, मेघवाहन लंकाथल ॥ तब विलंब नहिं कियो, सेठ-सुत दारिद भंजे । तब विलंब नहिं कियो, नाग जुग सुरपद रंजे ॥ इहि चूरि भूरि दुख भक्तके, सुख पूरे शिवतियरवन । प्रभु मोर दुःखनाशनविषैं, अब विलम्बकारन कवन ॥ तब विलंब नहिं कियो, सिया पावक जल कीन्हौं । तब विलंब नहिं कियो, चंदना शृंखल छीन्हौं ॥ तब विलंब नहिं कियो, चीर द्रुपदीको बाढ्यो ।

विलंब नहिं कियो, सुलोचना गंगा काढ्यौ। इमि चूरि भूरि दुख भक्तके, सुख पूरे शिवतियरवन। प्रभु मोर दुःखनाशनविषैं, अब विलंब कारन कवन॥ तब विलंब नहिं कियो, सांप किय कुसुम सु माला। तब विलंब नहिं कियो, उर्मिला सुरथ निकाला॥ तब विलंब नहिं कियो, शील-वल फाटक खुल्ले। तब विलंब नहिं कियो, अंजना वन मन फुल्ले॥ इमि चूरि भूरि दुख भक्तके, सुख पूरे शिवतियरवन। प्रभु मोर दुःखनाशनविषैं. अब विलंब कारन कवन॥ तब विलंब नहिं कियो, शेठ सिंहासन दीन्हौं। तब विलंब नहिं कियो. सिंधु श्रीपाल कढीन्हौं॥ तब विलंब नहिं कियो. प्रतिज्ञा वज्रकर्ण पल। तव विलम्ब नहिं कियो. सुधन्ना काढि वापि थल॥ इम चूरि भूरि दुख भक्तके. सुख पूरे शिवतियरवन। प्रभु मोर दुःखनाशनविषैं. अब वि कारन कवन॥ तब विलम्ब नहिं

। तब विलम्ब

नहिं कियो. कृष्णसुत शिला उतारे ॥ तव विलम्ब नहिं कियो. खड्ग मुनिराज बचायो । तव विलंब नहिं कियो. नीरमातंग उचायो ॥ इमि० ॥ प्रभु० ७ ॥ तव विलम्ब नहिं कियो. सेठ सुत निरविष कीन्हौं । तव विलम्ब नहिं कियो. मानतुंगबंध हरीन्हौं ॥ तव विलंब नहिं कियो . वादिमुनिकोढ मिटायो । तव विलंब नहिं कियो. कुमुद जिन पास मिटायो ॥ इमि० ॥ टेक ॥ ८ ॥ तव विलम्ब नहिं कियो. अंजना-चोर उबारे । तव विलम्ब नहिं कियो. श्रूरवा भील सुधारे ॥ तव विलम्ब नहिं कियो. गृद्ध-पक्षी सुंदर तन । तव विलंब नहिं कियो. भेक दिय सुर अद्भुत तन ॥ इमि० ॥ टेक ॥ ९ ॥ इहविधि दुखनिरवार. सारसुख प्रापति कीन्हौं । अपनो दास निहारि भक्तवत्सल गुन चीन्हौं ॥ अब विलम्ब किहि हेत. कृपा कर इहां लगाई । कहा सुनो अरदास नाहिं. त्रिभुवनके राई ॥

वृंद समनवचतन अबै. ~ थ. पन

शरन । सुधि ले दयाल मम हालपै, कर मंगल मंगलकरन ॥ १० ॥

28044
28044

२२

जिनवचनस्तुति ।

हो करुणासागर देव तुमी, निर्दोष तुमारा वाचा है। तुमरे वाचामें हे स्वामी, मेरा मन सांचा राचा है ॥ टेक ॥ बुधिकेवल अप्रतिछेद विषैं, सब लोकालोक समाना है। मनु ज्ञेय गरास विकाश अटंक, झलाझल जोत जगाना है। सर्वज्ञ तुमी सब व्यापक हो, निरदोश दशा अमलाना है। यह लच्छन श्रीअरहंत विना- नहिं और कहीं ठहराना है ॥ हो करु० ॥ धर्मादिक पंच वसैं जहं लौं, वह लोकाकाश कहावै है। तिस आगैं केवल एक अनंत, अलोकाकाश रहावै है ॥ अवकाश अकाशविषैं गति औ, थिति धर्म अधर्म सुभावै है। परिवर्तन लच्छन काल धरै, गुणद्रव्य जिनागम गावै है

...ीव औ ...धर्म द्रव्य ...

मध्य असंख्यप्रदेशी है। आकाश अनंतप्रदेशी है, ब्रह्मंड अखंड अलेशी है। पुग्गलकी एक प्रमाणू सो, यद्यपि वह एकप्रदेशी है। मिलने की सकति स्वभावीसौं, होती बहु खंध सुलेशी है॥ हो करु० ॥ कालाणू भिन्न असंख अणू, मिलनेकी शक्ति न धारा है। तिसतैं कायाकी गिनतीमें, नहिं काल दरबको धारा है॥ हैं स्वयंसिद्ध षटद्रव्य यही, इनहीका सर्व पसारा है। निर्बाध जथारथ लच्छन इनका, जिनशासनमें सारा है॥ हो करु० ॥ सब जीव अनंत प्रमाण कहे, पन लच्छन ज्ञायकवंता है तिसतैं जड पुग्गल सूरतकी, है वर्गणरास अनंता है॥ तिसतैं सब भावियकाल समयकी, रास अनंत भनंता है। यह भेद सुभेदविज्ञान विना, क्या औरनको दरसंता है॥ हो० ॥ इक पुग्गलकी अविभाग अणू, जितने नभमें थिति कीना जी। तितनेमहँ जीव अनंत,

विचित्र यही, नभकी वरनी परवीना जी । इसही विधिसों सब द्रव्यनिमें, गुन शक्ति वसैं अनकीना जी ॥ हो० ॥ इक काल अणूपरतें दुतियेपर, जाति जबै गत मंदी है । इक पुग-लकी अविभाग अणू सो समय कही निरद्वंदी है ॥ इसतैं नहिं सूच्छमकाल कोई, निरअंश समय यह छंदी है । यातैं सब कालप्रमान बंधा, वरनी श्रुति जैति जिनंदी है ॥ हो० ॥ जब पुग्गलकी अविभाग अणू, अतिशीघ्र उताल चलानी है । इक समयमाहिं सो चौदह राजू, जात चली पर-मानी है ॥ परनै तहँ सर्वपदारथको, क्रमसौं यह भेद विधानी है । नहिं अंश समयका होत तहां यह गतिकी शक्ति बखानी है ॥ हो० ॥ गुन द्रव्यनिके आधार रहैं, गुनमें गुन और न राजै है । न किसी गुनसों गुन और मिलैं, यह और विलच्छनता जैहै ॥ ध्रुव वै उतपाद सुभाव लिये, तिरकाल अबाधित छाजै है । षट

भाजे है ॥ हो० ॥ जिम सागरबीच कलोल उठी, सो सागरमाहिं समानी है। परजै करि सर्व पदारथमें तिमि, हानि रु वृद्धि उठानी है ॥ जब शुद्ध दरवपर दृष्टि धरें, तब भेदविकल्प नशानी है। नयन्यासनतैं बहु भेद सु तौ, पर मान लिये परमानी है ॥ हो० ॥ जितने जिन-बैनके मारग हैं, तितने नयभेद विभाखा है। एकांतकी पच्छ मिथ्यात वही, अनेकांत गहैं सुखसाखा है ॥ परमागम है सर्वंग पदारथ नय इकदेशी भाषा है। यह नय परमान जिनागम साधित, सिद्ध केर अभिलाषा है ॥ हो० १२ ॥ चिन्मुरतके परदेशमती. गुन है सु अनंत अनंता जी। न मिलैं गुन आपुसमें कबहूं, सत्ता निज भिन्न धरंता जी ॥ सत्ता चिनमूरतकी सबमें. सब काल सदा बरतंता जी। यह वस्तु सुभाव जथारथको. जिय सम्यकवंत लखंता जी ॥ हो० ॥ सविरोध विरोधविवर्जित धर्म धरें सब व... [illegible] है। ज[illegible] भाव

अभाव वसै. इन आदि अनंत सु छाजे है ॥
निरपेच्छित सो न सधै कबहूं. सापेक्षा सिद्ध
समाजै है। यह अनेकांतसों कथन मथन करि
स्यादवाद धुनि गाजै है ॥ हो० ॥ जिस काल
कथंचित आस्ति कही, तिस काल कथंचित
नाहीं है। उभयतमरूप कथंचित सो, निरवाच
कथंचित नाहीं है ॥ पुनि आस्ति अवाच्य
कथंचित त्यों, वह नास्ति अवाच्य कथाही है ॥
उभयातमरूप अकथ्य कथंचित, एक ही काल
सुमाही है ॥ हो० ॥ यह सात सुभंग सुभाव-
मयी, सब वस्तु अभंग सुसाधा है। परवादि
विजय करिवे कहं श्रीगुरु, स्यादहिवाद अराधा
है ॥ सरवज्ञप्रतच्छ परोच्छ यही, इतनो इत
भेद अबाधा है। 'वृन्दावन' सेवत स्यादहिवाद
कटै जिसतैं भवबाधा है ॥ हो करुणासागर
देव तुमी, निर्दोष तुमारा वाचा है। तुमरे
ी, मेरा मन सांचा राचा है ॥

२३

दोहा।

सहज शुद्ध ज्ञायक सकल, सकल गुनानिकर क्त
निर्विकार निर्दुंदमय, बंदों जिन विधिमुक्त ॥

पद्धडी छंद ।

जय त्रिभुवन नायक त्रिजगईस। जय करण-कुरंगनको मृगीस ॥ जय मोहशैलविध्वंसकार। जय जगतशिरोमणि स्वच्छवार ॥ जय अनुपम अद्भुत सुगुणधार। जय धर्मपोत जगजियउवार ॥ जय चरण शुद्ध अवलंव लंब । जय बोधशुद्ध प्रतिबिंब बिंब ॥ जय एनमुक्त तुम उक्त उक्त। जय क्रांत भार अति युक्त युक्त ॥ जय नष्ट अष्ट गुण अष्ट पुष्ट । जय जंतु तुष्ट अति सुष्ट सुष्ट ॥ जय मानमदोद्धतकरी तंग। जय मीनकेतमद किमपि भंग ॥ जय कर्मभर्म भानौ प्रवीन। जय मर्मज्ञान ज्ञाता कहीन ॥ जय शुद्धातम प्रतिबोधबोध । जय अ वभाव निरोधरोध ॥ जय

आस जगतकी पूरपूर ॥ जय भूलधूलनासन समीर । जय स्वातमरसफलभोगकीर ॥ जय विदितसप्ततत्त्वार्थअर्थ । जय सुगतिगमन त्रित॰ चिंतव्यर्थ ॥ जय लब्धिनवौंपूरित पुनीत । जय ज्ञानांबुधिभासक सुनीत ॥ जय नंतचतुष्टय इष्ट अंग । जय चतुकचमूविधिसंगभंग ॥ जय समवसर्नलक्ष्मीनिवास । जय प्रातिहार्य वसुजुत विभास ॥ जय कल्पवेल वांछक सुदैन । जय चिंतामणि मनाचिंत लैन ॥ जय जगभूरुहनासन-कुठार । जय भविजनचातकवारिधार ॥ जय मलिनकलिलकालिमपखाल । जय मुखअरविंद अधरप्रवाल ॥ जय पुरहुत सुर नर नागईस । जय नाय माथ ध्यावत मुनीस ॥ जय आनंद-कंदउदोतसूर । जय तारणतरण तरंड भूर ॥ जय सर्वविधिलायक तुम दयाल । जय मोहन-मूरति सृष्टिपाल ॥ जय जीवनमूल समूलमंत्र ॥ जय अधमउधारक भ्रमितंत्र ॥ जय तापतप्त-

जय जग अनाथ तुम नाथ कीन । जय अमल अचल चिद्रूप चीन ॥ नहिं चाह नाथ कछु और सोय । हे दीनदयाल कृपाल होय ॥ कर जोर जुगल विनती विथार ॥ संसार–खार–दुख–वार तार ॥

दोहा ।

दुख भंजन रंजन भविक, अंजन भंजन त्यागि
गंजन गर्भ अरीनके, नमै 'चंद' पद लागि ॥

२४

गुरु–अष्टक ।

कवित्त ३१ मात्रा ।

संघसहित श्रीकुंदकुंद गुरु, वंदन हेत गये गिरनार । वाद परी तहं संशयमतिसों, साक्षी वदी अंबिकाकार ॥ 'सत्य पंथ निरग्रंथ दिगंबर' कही सुरी तहं प्रगट पुकार । सो गुरुदेव वसो उर मेरे, विघ्न हरण मंगल करतार ॥ १ ॥

कियौ अपार। बंदन करौ शंभुपिंडीकौ, तब गुरु रच्यौ स्वयंभू भार॥ वंदन करत पिंडिका फाटी, प्रगट भये जिनचंद्र उदार। सो० ॥ २॥
श्रीअकलंकदेव मुनिवरसौं, वाद रच्यौ जहं बौद्ध विचार। तारा देवी घटमें थापी, पटके ओट करत उच्चार॥ जीत्यौ स्याद्वादबल मुनिवर, बौद्धबोध तारामदटार। सो० ॥ ३॥
श्रीमत विद्यानंदि जबै, श्रीदेवागम थुति सुनी सुधार। अर्थहेत पहुंचौ जिनमंदिर, मिलौ अर्थ तहं सुखदातार॥ तब व्रत परम दिगम्बरको धर. परमतको कीनो परिहार॥ सो० ॥ ४॥
श्रीमत मानतुंग मुनिवरपर, भूप कोप जब कियौ गंवार। बंद कियौ तालेमें तबही. भक्तामर गुरु रच्यौ उदार॥ चक्रेश्वरी प्रगट तब ह्वैकै. बंधन काट कियौ जयकार। सो० ॥ ५॥
श्रीमतवादिराज मुनिवरसौं. कह्यौ कुष्ठ भूपति जिहंवार। श्रावक सेठ कह्यौ तिहं अवसर, मेरे धार। तबही एकीभाव रच्यौ

गुरु, तन सुवर्णद्युति भयौ अपार ॥ सो० ॥ ६ ॥
श्रीमत कुमुदचंद्र मुनिवरसौं. वाद परौ जहं सभामंझार । तबही श्रीकल्यानधाम थुति, श्रीगुरु रचनारची अपार ॥ तब प्रतिमा श्रीपा- र्श्वनाथकी. प्रगट भई त्रिभुवन जयकार । सो० ॥
श्रीमत अभयचंद्र गुरुसौं जब, दिल्लीपति इमि कही पुकार । कै तुम मोहि दिखावहु अतिशय. कै पकरौ मेरो मत सार ॥ तब गुरु प्रगट अ- लौकिक अतिशय, तुरत हरौ ताको मदभार । सो गुरुदेव बसौ उर मेरे. विघन हरण मंगल करतार ॥ ८ ॥

दोहा ।

विघन हरण मंगलकरण. वांछित फलदातार
वृंदावन अष्टक रच्यौ. करौ कंठ सुखकार ॥

इति गुरु-अष्टक ।

२५

प्रकीर्णक।

माधवी छन्द।

रविसे रविसेन अचारज हैं. भविवारिजके विकसावन हारे। जिन पद्मपुरान वखान कियौ. भवसागरतैं जग जन्तु उधारे॥ सियराम कथा सु जथारज भाखि. मिथ्यात समूह समस्त विदारे। भवि वृंद विथा अव क्यों न हरौ. गुरुदेव तुम्हीं मम प्रान अधारे॥ १॥

भगवज्जिनसेन कविंद नमों. जिन आदि जिनिंदके छंद सुधारे। प्रथमानुसुवेद निवेदनमें, जिनकौ परधान प्रमान उचारे॥ जगमें मुद मंगल भूरि भरे. दुख दूर करे भवसागर तारे। भवि वृंद विथा अव क्यों न हरौ. गुरुदेव तुम्हीं मम प्रान अधारे॥ २॥

अशोकपुष्पमंजरी छंद।

जासके मुखारविंदतैं प्रकास भास वृंद,

तासके अभ्यासतैं विकास भेद-ज्ञान होत,
मूढ सो लखै नहीं कुबुद्धि कुंदकुन्दसे ॥
देत हैं असीस सीस नाय इंद चंद जाहि,
मोह-मार-खंड मारतंड कुन्दकुन्दसे ।
सुद्ध बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्ध रिद्धि सिद्धिदा,
हुए न हैं न होंहिंगे मुनिंद कुन्दकुन्दसे ॥ ३॥

अथ शारदाष्टक लिख्यते.

वस्तु छंद ।

नमों केवल नमों केवल रूप भगवान ।
मुख ओंकारधुनि सुनि अर्थ गणधर विचारै ॥
रचि आगम उपदिशै भविक जीव संशय निवारै
सो सत्यारथ शारदा, तासु भक्ति उर आन ।
छंद भुजंगप्रयातमैं, अष्टक कहौं बखान ॥ १॥

भुजंगप्रयात ।

जिनादेशजाता जिनेन्द्रा विख्याता ।
विशुद्धप्रबुद्धा नमों लोकमाता ॥
दुराचार दुर्नैहरी शंकरानी ।

सुधाधर्मसंसाधनी धर्मशाला ।
सुधातापनिर्नाशनी मेघमाला ॥
माहामोहविध्वंसनी मोक्षदानी ।
नमों देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥ २ ॥
अखैवृक्षशाखा व्यतीताभिलाषा ।
कथा संस्कृता प्राकृता देशभाषा ॥
चिदानन्द–भूपालकी राजधानी ।
नमों देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥ ३ ॥
समाधानरूपा अनूपा अछुद्रा ।
अनेकान्तधा स्याद्वादांकमुद्रा ॥
त्रिधा सप्तधा द्वादशांगी वखानी ।
नमों देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥ ४ ॥
अकोपा अमाना अदंभा अलोभा ।
श्रुतज्ञानरूपी मतिज्ञानशोभा ॥
महापावनी भावना भव्यमानी ।
नमों देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥ ५ ॥
अतीता अजीता सदा निर्विकारा ।

घुरापापविक्षेपकर्त्री कृपाणी।
नमों देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥ ६ ॥
अगाधा अबाधा निरंध्रा निराशा।
अनन्ता अनादीश्वरी कर्मनाशा ॥
निशंका निरंका चिदंका भवानी।
नमों देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥ ७ ॥
अशोका मुदेका विवेका विधानी।
जगज्जन्तुमित्रा विचित्रावसानी ॥
समस्तावलोका निरस्तानिदानी।
नमों देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥ ८ ॥

वस्तु छंद।

जैनवाणी जैनवाणी सुनहिं जे जीव।
जे आगम रुचिधरैं जे प्रतीति मन माहिं आनहि
अवधारहिं जे पुरुष समर्थ पद अर्थ जानहि ॥
जे हितहेतु 'बनारसी' देहिं धर्म उपदेश।
ते सब पावहिं परम सुख, तज संसार कलेश ॥

इति शारदाष्टक।